स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

# गीता मानस अपरोक्षाऽनुभूति

स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

गीता मानस

अपरोक्षाऽनुभूति




WORLD YOGA CONVENTION 2013

GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA

23rd–27th October 2013

# गीता मानस
# अपरोक्षाऽनुभूति

स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती
प्रेरणास्त्रोत – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती




योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

*बिहार योग विद्यालय द्वारा* *प्रथम संस्करण 1994*
*योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा* *पुनर्मुद्रण 2013*

**ISBN**: 978-93-81620-68-7



*प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,*
*मुंगेर, बिहार, भारत*
*मुद्रक—थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,*
*नई दिल्ली*

वेबसाइट : www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net

**Please insert here**

Dedication Tipon
of
Sw. Sivananda

**Peease insert here**

Dedication Tipon
of
Sw. Styananda

# प्राक्कथन

*नाहं कर्त्ता, गुरु कर्त्ता हि केवलम्।* गीता मानस की रचना मेरे जीवन से जुड़ी एक आश्चर्यजनक घटना है। जन्माष्टमी, 24 अगस्त 1989 की पूर्व संध्या, यानि 23 अगस्त की शाम को बिहार योग विद्यालय, मुंगेर के अध्यक्ष स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती जी ने मुझे बुलाकर कहा कि पूज्य गुरुदेव की आज्ञा है कि आप गीता पर लिखें। इन शब्दों को सुनकर मैं अवाक् हो गया, क्योंकि पूर्व में मैं गीता-पाठ कभी-कभी ही किया करता था। संस्कृत पढ़ी नहीं, गीता के बोधगम्य-भाव पूज्य विनोबा जी के गीता प्रवचन एवं बापू की पुस्तकें पढ़कर कठिन मानकर छोड़ता ही रहा।

संन्यास जीवन की ओर अग्रसर जीवन प्रवाह साधना को ही लक्ष्य मानकर ग्रहण किया। जीवन में जो अध्ययन हुआ है उसका ही चिन्तन चेतना में स्थायी रूप से प्राप्त हो, ऐसा एक विश्वास तथा गुरु चरणों में शेष जीवन बीते, यही धारणा थी। किन्तु उक्त दिवस पर जो आज्ञा हुई उससे मेरे मानस विश्वास पर चोट पड़ी। गीता पर लिखें तो क्या? यही सोचता रहा। रात्रि 8 से 9 बजे तक जप-ध्यान में भी मेरा यही चिन्तन चलता रहा कि मेरे गुरुदेव या स्वामी निरंजनानन्द जी ने मेरे प्रति क्या सोचा कि मुझे गीता पर लिखने को प्रेरित किया।

रात्रि विश्रामावस्था में एक सुहावना स्वप्न—पूज्य गुरुदेव के दर्शन एवं उपस्थिति से प्रसन्नता हुई, और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में मुझसे कहा कि लिखो-लिखो। मैंने उनसे किसी सूत्र के आधार की प्रार्थना की, जिससे मैं उस आधार को पकड़ कर प्रयत्न कर सकूँ। गुरु जी बोले, *"मूकं करोति वाचालं, पंगु लंघ ध्येते गिरिम्।" यद् कृपादऽम् महं वन्दे परमानन्दं माधवम्।* इसको

कविता में पद्यानुवाद करो और पूज्य गुरु जी की कृपा से मैंने उन्हें बोलकर सुनाया, "जाकी कृपा ते गूँगा बोले, लंगड़ा पर्वत चढ़कर डोले।" वे बोले, 'देखो बन गया न'। तुम इसी प्रकार प्रारम्भ करो। स्वप्न में मिला आदेश, उसकी पुष्टि, दर्शन, संतुष्टि से अन्दर की सजगता व आत्मविश्वास बढ़ा। मैं सजग था कि मैंने स्वप्न देखा है, प्रेरित हुआ, मन प्रसन्नता से भर गया।

प्रातः उठा, शान्त मन एवं भक्ति भाव से लिखना प्रारम्भ हुआ। जन्माष्टमी के मंगल पर्व ने मन की व्यथा से मुक्त किया। पहला अध्याय रामायण चौपाई, दोहा, छन्द के माध्यम से पूरा करने में चार माह बीते। रचना ले जाकर स्वामी निरंजनानन्द जी को दिखाई। उन्होंने गाया और मुक्त कण्ठ से मुझे प्रेरित करके बोले– आपके ऊपर गुरु जी की बहुत बड़ी कृपा है। इसी तरह से लिखिए। इसका नाम 'गीता मानस' ठीक रहेगा।

मैंने संकल्प लिया कि इसे इस संन्यास सत्र, अर्थात् 1991 में पूर्ण करूँगा और यह समय से पूर्ण भी हुआ। मेरी अवस्था सप्तदशी को पार कर गई, इस पर यह दुष्कर कार्य यदि सही अर्थों में पूर्ण हुआ है तो सचमुच मेरे ऊपर मेरे आराध्य पूज्य गुरुदेव का ही कौतुक है।

*त्वदीय वस्तु गोविन्दं, तुभ्यमेव समर्पितम् ।*

*– स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती*

# विषय-सूची

## गीता मानस



## अपरोक्षाऽनुभूति

# गीता मानस

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद



सद्गुरुवे श्री सत्यानन्दाय नमः

बंदौ गुरु पद पदम् परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा ॥
श्री गुरु पद नख माणिगण ज्योति। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होति ॥
भाव भेदरस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा ॥
जाकी कृपा ते गूँगा बोले। लंगड़ा पर्वत चढ़कर डोले ॥
मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी ॥

गुर के पद पंकज पूजि सदा, जगदम्ब मने मन भावनो है ।
जग में भ्रमि एक स्वरूप लखे, सबते मिलि नेह लगावनो है ॥

परपंच तजे मदमस्त रहे, बस तत्व विचार विचारनो है ।
यह मारग साधक सूध नहीं, तलवार की धार पे धावनो है ॥

# गीता-महात्म्य

गीता ज्ञान प्रदायनी, सकल धर्म की खान् ।
शास्त्रमयी गीता की, जग में कीर्ति महान् ॥

वासुदेव के सुत भये, मर्दन कंस चाणूर ।
आनंन्दिति अति देव की, कृष्ण वन्दे जगत्गुरु ॥

ब्रह्मा वरुण इन्द्र इव, वायु आदि सब देव ।
अंग पद उपनिषद् क्रम, गावें चारउ वेद ॥

देव दैत्य जिन अजहुं न जाना। पावहिं योगी सुख कर ध्याना ॥
जाकी कृपा ते गूंगा बोले। लंगड़ा पर्वत चढ़ कर डोले ॥
बंदौ आनन्द कंद भगवान। कृष्ण चंद्र हे कृपानिधान ॥
गौ स्वरूप उपनिषदहिं मानो। दोहत नंद गोपालहिं जानो ॥
दुग्धहिं गीता अमृत जानी। पियहिं पार्थ अरुनर विज्ञानी ॥

जो व्याप्त अखंड मण्डलकृत, सकल चराचर मान ।
गुरु दर्शन पद कमल श्री, गुरुहिं करहुँ प्रणाम ॥

ध्यान मूल श्री गुरु के, श्री गुरु पदमहिं पूज ।
मूल मंत्र श्री गुरु वचन, कृपा मोक्ष नहिं दूज ॥

संयुक्त विन्दु ओंकरहिं, ध्यावहि योगी नित्य ।
फल कामना मोक्ष श्री, ॐ नमो भगवत् ॥

हे विश्वरूप हे जनार्दन, जगपालक जग काल ।
व्याप्त चराचर विश्वमय, लीला-मय गोपाल ॥

# अथ प्रथमोऽध्यायः

## अर्जुन विषाद योग

### धृतराष्ट्र उवाच

धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र महं जो वीर जुटे युद्धार्थ ।
उन भरत वंश के संजय, वर्णन करहुँ यथार्थ ॥

### संजय उवाच

व्यूह रचित लखि पाण्डव सेना। दुर्योधन बोल्यो गुरु द्रोणा ॥
पाण्डव सेना देखिय गुरुवर। शिष्य धृष्टधुम्न विज्ञवर ॥
अर्जुन, भीम शूर धनुधारी। द्रुपद रथी विराट अतिभारी ॥
पुरुजित काशीराज उपमन्यु। कुंतिभोज उत्तम अभिमन्यु ॥
द्रुपद सुभद्रा तनय सभी। प्रबल पराक्रमी महारथी ॥
गुरुवर सुनहु ब्रह्म विप्रवर। कहहुँ नाम निज नायकन्ह अब ॥
आर्य आपु पितामह भीष्मा। विजयी कर्ण विकर्ण धुरीणा ॥

रणशस्त्री गंभीर अरु शूर अनेक प्रवीण ।
तनय सोमदत्त तव, मन हित जीवन दीन्ह ॥

रक्षित सैन्य पितामह द्वारा। संरक्षित जो सभी प्रकारा ॥
भीमहि रक्षित पाण्डव सेना। सुगम सुलभ सुनहु गुरु द्रोणा ॥
कौखन्ह ज्येष्ठ भीष्म पितामह। कीन्ह शंख उद्घोष भयावह ॥
सहसा बजे तदन्तर बाजे। भेरी शंख-नाद अति गाजे ॥
रथ पर बैठ कृष्ण धनंजय। श्वेत अश्व युत रथ सज लीन्हेउ ॥
शंख महाध्वनि केशव कीन्हा। संग किरीटी सोइ ध्वनि दीन्हा ॥
पौण्ड्र शंख भीष्म तब बाज्यो। पाञ्चजन्य केशव को गाज्यो ॥

देवदत श्री अर्जुन कीन्हो शंख निनाद ।
अनंत विजय युधिष्ठर, सुघोष कीन्ह आकाश ॥

मणिपुष्पक सहदेव कराहीं। नकुल सुघोष कीन्ह क्षणमाहीं ॥
काशिराज शिखण्ड सात्यकी। विराट धृष्टद्युम्न पराक्रमी ॥
सौभद्र द्रोपदेय अरु द्रुपद। कीन्ह शंख ध्वनि पृथक् पृथक् ॥
गूँज्यो घोष जब धरा गगन महं। कौरव दल कांप्यो तब मनमहं ॥
देख तहां धृतराष्ट्र संबंधी। रणहित तत्पर ठाड़ेउ सभी ॥

## अर्जुन उवाच

कपिध्वज अर्जुन कृष्ण से, बोल्यो धनुष उठाय ।
युगल सैन्य के बीच अब, रथ रोपिय यदुराय ॥

होइय किन्हसन युद्ध हमारा। चहहुं लखन सो तिन्ह विस्तारा ॥
किन किन नृपन्ह दुशासन लीन्हें युद्ध लालसा चहुंतिन्ह चीन्हें ॥

## संजय उवाच

अर्जुन वाणी सुनतहिं केशव। जाय सैन्य बिच रोकदीन्ह रथ ॥
भीष्म द्रोण जहं ठाड़कीन्ह रथ। कौरव गुरुजन नृपन्ह आदि सब ॥
केशव कहेउ सुनहु हे अर्जुन। समरांगण देखउ इच्छुक गण ॥
लखेउ पार्थ तब उभय सैन्यमहं। पुत्र पौत्र पितृव्य पितामह ॥

अवलोक्यो समुपस्थित, मित्र बन्धु अरु भ्रात ।
मातुलादि आचार्यगण, ससुर सुहृदय सो साथ ॥

करुणा ते भर गयो ताहि क्षण। वाणी त्यों बोल्यो कातर मन ॥
सूखे मुख अब मेरो प्रभुबर। शरीर रोमांच हो कांपे थर थर ॥
खिसक रह्यो गाण्डीव करों से। रोक न सकहुं तनिकहुं इसे ॥
त्वचा दहे क्षण-क्षण घबराऊं। भ्रमित चित्त अशक्त पग ठाऊं ॥
लक्षण मोहिं दीखे विपरीता। नहिं रणश्रेयबन्धु बध जीता ॥

केशव नहिं चाहिय मोहिं, विजय राज्य सुख भोग ।
भला नाहिं कछु पाइ तेहि, व्यर्थ युद्ध संयोग ॥

हमहिं इष्ट यदि राज्य भोगकर। मारों जिनहिं न मोह प्राणकर ॥
पितामह ताऊ पुत्र गुरुजन। मामा साले ससुर नात मम ॥

मरहुं स्वयं पै हतहुं न काऊ। धन सुख धाम त्रिलोकहिं, त्यागूं ॥
हतहु जो प्राण धृतराष्ट्र तनयके। लागे पातक मारे इनके ॥
नहिं मारों प्रतिशोध चुकाऊं। स्वजनहिं मार मनहिं पछिताऊं ॥
सूझ न यद्यपि इनहिं लोभवश। कुलघात दोष लागहिं मोहिं तब ॥

हमहिं बोध असपापकर, मधुसूदन सुन लेहु ।
हरहिं युद्ध ते आप हम, समुझ न अपयश लेहु ॥

कुल विनाश ते धर्म नसाहीं। उपज पाप अरु अधर्म सदाहीं ॥
अधर्म बाढ़ डूबहिं कुल नारी। जनम वर्णसंकर दुख कारी ॥
कारण होईय अध:पतन कर। तर्पण श्राद्ध बिना पितृतर ॥
प्रबल दोष वर्ण संकर केरे। कुल मान धर्म नसाहिं बडेरे ॥
नरक वास कुल धर्मनाश ते। सुनहिं ते मरहिं-दीर्घकाल वे ॥
होइ ज्ञानी मोहिं होइय यह दुख। राज्य लोभ हित स्वजन बधे सब ॥

युद्ध विरत निशस्त्र यदि, कौरव मारहिं मोहिं ।
तदपित मौन हुयसहऊं सब लहहुंलाभहित होई ॥

**संजय-उवाच**

अति आकुल शोकातुर, पार्थ छोड़ शरचाप ।
पृष्ठ भाग रथ के तभी, करे बैठ संताप ॥

॥ इति प्रथमोऽध्याय: ॥

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

## सांख्य योग

### संजय-उवाच

लख शोकातुर अर्जुनहिं, मोह विषाद मलीन ।
मधुसूदन बोले तबहिं, वाणी मधुर प्रवीण ॥

### श्री भगवान उवाच

अर्जुन मोह भयउ केहि कारण। सोह न पुरुष श्रेष्ठ अस धारण ॥
स्वर्ग कीर्ति पथ कहं यह बाधा। विजय हेतु संकल्पहु साधा ॥

### अर्जुन उवाच

पूजनीय मम भीष्म द्रोण से। युद्ध होय नहिं मोसन इनसे ॥
नहिं चाहों सुख हतों पूज्य कह। मांगहु भीख उचित नहिं मोकहं ॥
युद्ध विरक्ति ज्ञान नहि पावों। जीत होय कि हार मनावों ॥
इन्हहिं मार नहिं जीवों एक क्षण। जो कौरब ठाढे सम्मुख रण ॥
मम कार्पण्यहु वृत्ति नसानी। शरणागतिहुं कहिये हित जानी ॥

पावहुं यदि साम्राज्य सुख, निष्कंटक सुर लोक ।
तबहुं व्यथा यह मनहिं मोहिं, शोषक इन्द्रिय शोक ॥

### संजय उवाच

नहिं करिहौं मैं युद्ध जनार्दन। पार्थ मौन हुये जल भरि लोचन ॥
पार्थ दुखी लख हंसहिं कृपालू। अर्न्तयामी दीन दयालू ॥

### श्री भगवान उवाच

शोक अशोकहिं हित बुध वाणी। सुखी न सोच गतागत प्राणी ॥
कवनउ काल भयउ जग मांही। मम तव नृपन्ह अस्तित्व नसाहीं ॥

जीवात्मा जिमि देह समाई। बाल युवा तन रहयो बुढाई ॥
होय प्राप्त ऐसइ नूतन तन। मोह न होय पुरुष पंडित जन ॥
जिमि इन्द्रिय विषयन कर संगम। व्यापे सुख दुख शीत उष्ण क्षण ॥
निश्चय कर अब मन यह मानिय। उत्पति नाश अनित्यहिं जानिय ॥

बाधा व्यथा न व्यापहिं, धीर पुरुष जे होहिं ।
सुख दुख सम जानहिं सदा, मोक्ष अर्थ तिन सोहिं ॥

अस्ति असत ज्यों सत आसक्ती। लखि स्वरूप द्वय त्यों दृष्टा की ॥
कण कण व्याप्त न जगत नसाहीं। धरा गगन अविनाश सदाहीं ॥
नित्य निस्सीम जीवात्मा अक्षय। तन क्षय मान युद्ध कर निश्चय ॥
मानहिं जीवहिं हंत निहंता। दोउ जन अज्ञ कहहिं भगवंता ॥
दृश्य अदृश्य जन्म अरु मरणा। जानहु नित्य अजन्महिं आत्मा ॥
मरे न मारे कवनेउ काहू। जानउ पार्थ अजन्म प्रभाऊ ॥

पट पुरान के फटत ही, नव पट लेवहिं धार ।
तिमि जीवात्मा त्याग तन, नव तन लेत संवार ॥

कटे न शस्त्र अनल नहिं जरई। गले न नीर वायु नहिं सरई ॥
शोषे गले न कटे कदापी। शक्ति अपरमित यहं जग व्यापी ॥
अचिन्त्य व्याप्त अव्यक्त सनातन। नित अविकार अचल पुरातन ॥
मानहु पार्थ समुझ अस वाणी। सब प्रकार अब तजहु गलानी ॥
जन्म मरण आत्मा यदि मानो। तदपि न शोक करहु दृढ जानो ॥
आदि व्यक्त अरु व्यक्त मध्यमहि। कर न शोक अव्यक्त मृत्यु नहिं ॥
चकित लखहिं कोउ सुध बुध खोइ। कर बखान अरु पंडित कोई ॥

सुनहिं चकित अस कोउ कोउ, समुझ न पावे कोय ।
अबध्य आत्मा सर्व है, देह धरा पर होय ॥

सोह तुम्हहिं अस धर्महिं माने। क्षत्रिय श्रेय रणहिं पहचाने ॥
पार्थ युद्ध यह स्वर्ग द्वार सम। क्षत्रिय मानहि धन्य पुण्य कर्म ॥
विरत युद्ध अपकीर्ति अधर्मा। लागहिं पाप नसाहिं सुकर्मा ॥
बने अकोरत करुण कहानी। चिरकालहु कह संसृति प्राणी ॥
अकीर्ति मनुज कहं मृतवत जीवन। मरणाधिक अपमानित यह तन ॥

हुइ निन्दित बैरी धिक्कारहिं। नहिं समर्थ अस दुख निर्वारिय ॥
मरे स्वर्ग जीतहु सुख भोगा। पार्थ मान करु युद्ध नियोगा ॥

लाभालाभ कि जयाजय, सुख दुःख एक समान ।
जूझे रणहिं जो मान अस, मुक्त पाप एहि मान ॥

तव हित कहेउं ज्ञान कर बाता। सुनहु योग जो मुक्ति प्रदाता ॥
एहि ते कटहिं कर्म कर बंधन। रक्षित जन्म मृत्यु भय कारण ॥
निश्चय कारक बुद्धि कर्ममय। पार्थ हरहिं बाधा प्रतिक्षण यह ॥
डूबे वेदवाद फल त्यागी। भ्रमित बुद्धि थिरता त्यागी ॥
रहे न निश्चय बुध प्रभु संगा। कर अनुराग बड़ विषय प्रसंगा ॥
अहहिं वेद त्रिगुणात्म स्वरूपा। अलिप्त होउ निर्द्वन्द अनूपा ॥
प्राण मनहिं जिमि तृप्त कूप सर। तिमि वेदहिं अरु ब्रह्म निष्टवर ॥

होय अधिकारी कर्मकर, नहिं फल प्राप्त विचार ।
छांडहु मोह आकांक्षा, कर्म अकर्म विसार ॥

सिद्धि असिद्धि भाव माने नित। पार्थ योग कर्त्तव्य कर्म पथ ॥
बुद्धि योग श्रेष्ठ अति जानिय। कर्म फलार्थ खोट अति मानिय ॥
पाप पुण्य सब बुद्धि अलिप्ता। पार्थ सुकर्महिं योग सचिष्ठा ॥
फल तज ज्ञान कर्म बुद्धि जन। पाइ परमपद काटहिं बन्धन ॥
विचलित बुद्धि होय स्थिर जहं। योग युक्त निश्चल समाधि महं ॥

## अर्जुन उवाच

केशव कहिय पुरुष थिर लक्षण। बोलहिं चलहिं बैठ किमि प्रतिक्षण ॥

## श्री भगवान उवाच

सर्व मनोगत कर्महिं त्यागहिं। आत्म तुष्ट थिर प्रज्ञ कहावहिं ॥

सर्व मनोगत कर्म कहं, त्याग देहिं क्षण माहिं ।
स्थित प्रज्ञ होइ ते पुरुष, आत्म संतुष्टि कहाँहि ॥

राग द्वेष भय रहित एक सम। जानु धनंजय तिन्हहिं धीर मुनि ॥
हर्ष विषाद शुभाशुभ आने। नहिं तहं नेह न दुविधा माने ॥

सकल अंग जिमि कूर्म समेटहिं। प्रज्ञ पुरुष तिमि विषयन मेटहिं ॥
विषय निवृत्त दीख उन केवल। प्रज्ञ पुरुष थिर सदा आत्म बल ॥
आसक्ति शेष जो ज्ञानिहि रहई। इन्द्रिय बस बर्बस हुइ फंसई ॥
साधक संयम साध युक्त हो। ध्यावहिं मोहिं इन्द्रिय विरक्त हो ॥

विषय भोग कर चिन्तन, जन्म आसक्ति सो होय ।
संग आसक्ति कामना, क्रोध कारणहिं सोय ॥

क्रोधहिं कारण होइय मोहा। तेहि तेसंस्मृति कर भ्रम छोहा ॥
रोग द्वेष बिन इन्द्रिय विचरण। पार्थ पाव तिन्ह सुख अन्तर्मन ॥
होइ प्रसाद युत छूटहिं भव दुख। पावहिं थिर बुध मन प्रसाद सुख ॥
नाहिं अयोगिहं बुद्धि भावना। कुत अभावन शान्ति सांत्वना ॥
दौड़े मन जिमि इन्द्रिय पीछे। वायु नाव जल कहं जिमि खींचे ॥
इन्द्रिय विषय अलिप्त सदाहीं। पार्थ अचल बुद्धि तिन पाहीं ॥
जो निशि सोबहिं सकल जीव जहं। जागहिं संयम योग पुरुष तहं ॥
भव सुख हित ते जागहिं भोगी। निशा मान तेहि सोवहिं योगी ॥

ज्यों मिले नदी नद जलधि महं अचल प्रतिष्ठित रूप मंह ।
त्यों काम सारे समाहि जाहिं पूर्ण अकाम विरक्ति तंह ॥
परित्याग सर्व काम विचरहिं मन मुदित नर निस्पृही ।
मिले सदा सुख शान्ति सर्वदा ताहि नहिं चिन्ता गही ॥

ब्रह्म विवेकी पुरुष की, पार्थ सोइ पहचान ।
व्यापे जिन्हहिं न मोह कछु, ब्रह्म मोक्ष तेहि मान ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्याय: ॥

# अथ तृतीयोऽध्याय:

## कर्मयोग

**अर्जुन उवाच**

श्रेष्ठ कर्म से बुद्धि को, मानहु यहि गोपाल ।
तब क्यों हमें लगावहु, ऐसे कर्म कराल ॥
गूढ वाक्य तव मृदुल अति, मैं विमूढ मतिहीन ।
निश्चित मम हित कहिय प्रभ, तव सेवा आधीन ॥

**श्री भगवान उवाच**

द्वय प्रकार निष्ठा कह पूर्वहिं। ज्ञानीहि सांख्य कर्म योगीहिं ॥
नैष्कर्म नहिं सधे योग बिन। नहिं सिद्धि संन्यास ज्ञान बिन ॥
रहे न क्षणहु कर्म बिन कोई। तन्त्र प्रकृति विवश सब कोई ॥
रोकहिं इन्द्रिय तदपि न मनसे। लिप्त विषय अरु मिथ्या जगते ॥
अनासक्त जन श्रेष्ठ प्रतिक्षण। इन्द्रिय अंकुश करहिं आचरण ॥
शास्त्र विहित कर निश्चय कर्मा। कर्महिं श्रेष्ठ अपेक्ष अकर्मा ॥

बन्धनकारी कर्म के, भय से कर्म न त्याग ।
पार्थ कर्म के हेतु ही, कर नि:संग यज्ञाग ॥

जब सुयज्ञ रच आदि ब्रह्मवर। प्रजहिं कहेउ फल प्राप्त यज्ञकर ॥
करहु पुष्ट देवन्ह यदि यज्ञहि। रीझहिं तव फल इच्छित देहिं ॥
माँगे बिन सब मिलहिं भोगसुख। अहै चोर जो मरे स्वार्थ रत ॥
खाहिं सन्त निष्पाप अवशेषा। पापी खाइ पोष तन हेता ॥
जीवहिं उत्पति होय अन्न से। उगे न अन्न बिना वृष्टि ते ॥
निर्भर यज्ञ वृष्टि ते होई। कर्म सम्भूत यज्ञ तब सोई ॥

उत्पत्ति कर्महिं वेद से, वेद उत्पति ब्रह्म ।
ब्रह्म जो व्यापक सर्वं में, अहै अधिष्ठित यज्ञ ॥

अनुवर्त्ती न सृष्टि चक्र जोई। जीवन व्यर्थ रमेन्द्रिय जोई ॥
आत्मप्रीति अरु तुष्ट तृप्ति जो। करहिं न कर्म कछु लोक मुक्त हो ॥
करै न करै कर्म नहिं प्रीती। पार्थ स्वार्थ रत नाहिं प्रतीती ॥
सतति निसंग कर्म तुम करहू। लाभमुक्त निर्द्वन्द विचरहू ॥
कर्म निसंग जनक सिधि पाई। लोक संग्रह कर्म फलदायी ॥
श्रेष्ठ पुरुष पथ अन्यहिं भावे। सिद्धि प्रमाण ते लोक रिझावे ॥

नाहींमम कर्त्तव्य कछु, नहिं अप्राप्त तिहुं लोक ।
तबहुं न निष्क्रिय एक क्षण, निष्ठकर्म ओत प्रोत ॥

नित सचेत रत कर्म जो नाहीं। तत्पथ पग जन धरत सदाहीं ॥
तजहु जो कर्म उछिन्न जग होई। संकर्त्ता हनु प्रजा मैं सोई ॥
आसक्त मूढ ज्यों कर्मरत होवे। जगहित विरक्त त्यों कर्म संजोवे ॥
भ्रम ज्ञानी नहिं अविज्ञ आसक्ति। प्रेरित करहिं कर्म विधि युक्ती ॥
प्रकृति सम्पन्न गुणन ते होई। अज्ञानी कर्त्ता बस सोई ॥
नहिं गुण कर्म लिप्त ज्ञानी नर। बर्तहिं समुझ गुणन ते गुणभर ॥
गुण कर्म लिप्त मोहहिं अज्ञानी। अल्पज्ञ अभ्रान्त करहिं तिन्हज्ञानी ॥

पार्थ सौंप सब कर्म मोहिं, अध्यात्म बुद्धि के साथ ।
आशा ममता भय रहित, करहु युद्ध निष्पाप ॥

चलहिं मान जो सदा मोर मत। कर्म मुक्त अपाप श्रद्धायुत ॥
मोर न आदर मत्सर करई। जानहु नष्ट विमूढ विचरही ॥
अनुकूल प्रकृति ज्ञानीकर चेष्टा। हठ वश रहे न पग धर उलटा ॥
राग द्वेष विषयेन्द्रिय कारण। अहित मार्ग रिपु प्रबल सकारण ॥
हित स्वधर्म परधर्म अहितकर। निधन स्वधर्म परधर्म भयंकर ॥

## अर्जुन उवाच

केहि बल स्वेच्छ प्रतिकूल आचरण। पाप बध्य प्रेरित केहि करण ॥

## श्री भगवान उवाच

सदा रजोगुण कारण काम उत्पतिमान ।
यहाँ काम ही क्रोध हैं प्रबल पापरिपुजान ॥

ज्यों ढंके अग्नि धूम दर्पण मैल गर्भहिं जेर से ।
बस जान प्रतिक्षण ज्ञान को है काम ढंके रहे इसे ॥
ज्ञानी के अरि तृषित काम अग्नि तुल्य अतृप्त है ।
पार्थ काम बस मूल कारण ज्ञात तेहिते अदृश्य है ॥
मन बुद्धि एन्द्रिय मांहि वास, काम छाय रहयो सदा ।
ताहि कारण ज्ञान को ढंक जीव तन कर मोह प्रदा ॥
अत: पार्थ प्रथम इन्द्रिय वश करहु यह मानहु ।
जान ज्ञान विज्ञान संहार शत्रु काम पछारहु ॥

तन से परे इन्द्रियां इनसे पर मन मान ।
मन से भी पर बुद्धि है, बुद्धि परे वह जान ॥
बुद्धि से अत्यन्त पर जीत स्वयं को आप ।
पार्थ बुद्धि से वशीकर, वंध बैर काम मन पाप ॥

॥ इति तृतीयोऽध्याय: ॥

# अथ चतुर्थोऽध्यायः

## ज्ञान कर्म संन्यास योग

**श्री भगवान उवाच**

प्रथम कहेउं मैं सूर्य कहं अविनाश पुरातन योग ।
कहयो सूर्य सो मनु पुनि, इच्छवाकु संयोग ॥

संत राजर्षि योग सोइ दीन्हा। पार्थ काल बहु भयउ विलीना ॥
तव हित कहेउं सो योग पुरातन। तैं मम भगत सखा निर्मल मन ॥
उत्तम श्रेष्ठ रहस्य येहि जानो। रहयो गुप्त अब प्रगट बखानो ॥

**अर्जुन उवाच**

आदि सूर्य कस कहयो पूर्वहिं। जनम भयउ केशव तव अबहीं ॥

**श्री भगवान उवाच**

पार्थ जन्म तव मम बहु बीते। सुध नहिं तोहि मोहिं सुध नीके ॥
अज अध्यात्म मैं भूत महेशा। मैं जन्मेंउं निज प्रकृति सुबेषा ॥

जबहिं होय हानि धरम्, लोक अधर्म बढ़ जाहिं ।
तबहिं धरा पर जन्महु, प्रगटों संशय नाहिं ॥

सत्कर्म सुरक्षित दुष्कर्म विनाशों। जन्मनिमित्त धर्म संस्थापों ॥
जन्म कमं यह दिव्य अलौकिक। लोकतिहूं अहै पार्थ परलौकिक ॥
जान जे तत्त्व जन्म नहिं धारहिं। अपितु त्याग तन स्वर्ग सिधारहि ॥
पार्थ नाश जिन राग क्रोध भय। ममाश्रयी तपपूत ज्ञान मय ॥
जो जस भजे फलउं तिन्ह कहं तस। बुध मानव अनुसरै मार्ग अस ॥
पूजदेव फल कर्म चाहहिं जस। कर्मसिधि फल प्राप्त ताहि तिनहिं तस ॥
चार वर्ण गुण कर्म विभागा। मैं ईश्वर कत्तपिन त्यागा ॥

छुवै न कर्म कछु मोहिं, नहिं फलांकांक्षा मोह ।
जे जन जानहिं मोहिं अस, मुक्त सजीवन होय ॥

कर्म जो कीन्ह पूर्व मोक्षार्थी। करहु कर्म तस पूर्वहिं भांती ॥
भ्रान्त होय कवि कर्म अकर्महि। मोते सुनहु सो मुक्ति सुकर्महि ॥
कर्म अकर्म विकर्महिं भेदा। समुझ गूढ़ यह मर्म विभेदा ॥
देखहिं अकर्म मोहिं जे कर्मा। कर्म माहि अनुभवहिं अकर्मा ॥
ऐसे पुरुष श्रेष्ठ अरु ज्ञानी। सर्व कर्मरत योगी जानी ॥
सकल कर्म नि:संकल्पते होई। दग्धि कर्म बुध ज्ञानाग्नि सोई ॥

सदा तृप्त सो निराश्रय, अफलासक्त मन काम ।
सदा अकर्म कर्मरत: जानहु पुरुष महान ॥

विजयी तन इन्द्रिय अन्तर्मन। अघ नहिं ताहि कर्मरत जीवन ॥
मुक्त फलाफल सम संतुष्टी। मत्सर द्वन्द्वहीन सम दृष्टी ॥
नहिं आसक्ति शेष नहिं ममता। दृढ़ निश्चयी भय मद मुक्ता ॥
स्त्रुबा आदि सब ब्रह्म यज्ञ महं। साधन कर्त्ता क्रिया ब्रह्म महं ॥
हव्यक्रिया ब्रह्म ब्रह्माग्नि ब्रह्मा। ब्रह्म प्राप्ति समाधि कृत ब्रह्मा ॥
होम संयमाग्नि श्रोत्रादि इन्द्रिय। शब्दाहि भोग होमाग्नि इन्द्रिय ॥

आत्म संयम योग महंकोउ, ज्ञान समुद्दीप्तहिं करें ।
क्रिया ते मन प्राण इन्द्रिय, पलमाहिं सो भस्महिं करें ॥
कोउ दृव्य यज्ञ कोउ तपोयज्ञ, कोउ यज्ञ योग सब दिन करें ।
पार्थ अहिंसा कठिन व्रतन सो, यत्न युक्त अनुभव भरें ॥
कोउ प्राणवायु अपान वायु-होमहिं अपानहिं प्राण महं ।
रोक नियता प्राणाउपान की गति होम प्राणहि प्राण महं ॥

ये सब साधक यज्ञ ते, करहिं पाप कर नाश ।
ज्ञानी बनहिं सुयज्ञ सो, धरहिं यज्ञ पग पाथ ॥

पाय अवशिष्ट सधानित ब्रह्महिं। सुख निर्वज्ञ लोक परलोकहिं ॥
यज्ञ विस्तार अनेक विधि वेदहिं। कर्मज ज्ञान प्राप्त कर मोक्षहिं ॥

ज्ञान श्रेष्ठ अति दृव्य यज्ञ ते। पार्थमान अब मोक्ष मार्ग ये ॥
सीख तत्त्वदर्शीपहं जाई। ज्ञान समुझ सेवा ते पाई ॥
ज्ञान तरणि ते भव तर जाई। पाप होय कितनेउ अधिकाई ॥
भस्म करै ईंधन अग्नि ज्यों। वचे न कर्म ज्ञान अग्नि त्यों ॥
ज्ञान पवित्र अहै जग मांही। संभव कर्म ते सिद्धि जिन पाई ॥
यती श्रद्धालु ज्ञान दृढ़ तत्पर। ज्ञान ते पाव पराशान्ति नर ॥

जे पुरुष श्रद्धा विवेक हीन संशयात्मा पथ भ्रष्ट हैं ।
सुनहु पार्थ तिन नाहिं सुख, परलोक लोकहिं कष्ट है ॥
सन्यस्त युत हो करहिं कर्म समस्त योग युक्त जो ।
ज्ञान तेहो असंशयी आत्मवन्त विरक्त हो ॥

अज्ञान संदेह जनित तव, दशा विचित्र सुन पार्थ ।
खंडित करहु ले ज्ञान असि, तत्पर हो युद्धार्थ ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

# अथ पञ्चमोऽध्यायः

## कर्म संन्यास योग

**अर्जुन-उवाच**

कबहुं कर्म संन्यास तो, कबहुं प्रशंसहु योग ।
मधुसूदन कहु एकहीं, मोहि हित सोइ सुयोग ॥

पार्थ मार्ग दूनउ श्रेयस्कर। सन्यास ते कर्म योग उच्चस्तर ॥
नित संन्यास द्वेष नहिं रागा। निर्द्वन्द सुखीभव बंधन त्यागा ॥
अज्ञ भिन्न कह सांख्य योगहिं। पृथक अर्थ फल प्राप्त बखानहिं ॥
भिन्न न होइ फल प्राप्त समाना। योग सांख्यसम उचित प्रमाना ॥
सांख्य धाम सोइ योगते पावहिं। सत्य पुरुष नहिं भिन्न बतावहिं ॥
संन्यास क्लिष्ट अति बिन कर्मयोगा। पाव ब्रह्ममुनि युगति संयोगा ॥

सब कहुं जाने आत्मवत् जितात्मशुद्ध मन नित्य ।
यती योग मुनि कर्मरत, अलिप्त-सदा कर्त्तव्य ॥

तत्वविज्ञ योगी मन आनहिं। नितकर कर्म-कर्ता नहिं मानहिं ॥
बोलहिं चलहिं खाय अरु सूधहिं। सब इन्द्रियन अर्थ तिन बर्त्तहिं ॥
सौपहिं ब्रह्म कर्म सब अपने। फलासक्ति नहिं जा कहं सपने ॥
छुवे न पाप अलिप्त सदाहीं। ज्यो जल पद्मपत्र की नाई ॥
योगी देह बुद्धि मन इन्द्रिय। नि:संग कर्मरत आत्म सुखी जय ॥
अफलाकांक्ष शान्त नित योगी। अयुक्त सकाम कर्मफल भोगी ॥
करहिं कराहिं कर्म मन त्यागहिं। तन नव द्वार यती सुख पावहिं ॥

नाहिं न कर्म नहिं कर्मफल, नहिं कर्त्तापन योग ।
सृजहिं लोक स्वामी नित, प्रकृति प्रगट संयोग ॥

गहे न ईश पुण्य फल पापा। मुग्ध अज्ञानवश ज्ञान ते नापा ॥
अज्ञान नष्ट जिन्ह ज्ञानहिं द्वारा। प्रगट भानु ज्यो मिटे तम सारा ॥

जिन मन बुद्धि थिर प्रभु निष्ठा। पाप रहित गति मोक्ष प्रतिष्ठा ॥
विद्या विनय सम्पन्न विप्र मह। हाथी गौ चाण्डाल श्वान महं ॥
अस तत्त्वज्ञ राखि सम दृष्टि। नहिं कछु भेदभाव सम सृष्टि ॥
जीवन विजयी मन थिर राखहिं। अदोष ब्रह्म ते ब्रह्म स्थापहिं ॥

सुखी न जो प्रिय प्राप्त पर, अप्रिय दुखी न काहु ।
थिर बुद्धि ब्रह्मज्ञ ते, स्थित ब्रह्म सदाहु ॥

जो सुख बाह्य भोग आसक्तहिं। अक्षय सुख सोई ब्रह्म स्थितहिं ॥
सबइ मान दुख इन्द्रिय भोगा। बुध नहिं रम एहिमान अयोगा ॥
तन त्याग पूर्व जे सहहिं समर्था। काम क्रोधकर बेग सहर्षा ॥
अन्तस जाग ज्योति थिर स्थिर। योगी ब्रह्मज्ञ मोक्ष सोइ नर ॥
निष्पाप निसंशय पर उपकारी। ऋषि निर्वाण ब्रह्म अधिकारी ॥
विरत काम क्रोध संयतात्मन्। आत्मवंत सर्वत्र परमात्मन् ॥

बाह्य विषय भोग चिन्तन, करहिं न क्षण भर तनिक जो ।
अरु निकासहिं वासना की, वास अन्तस माहिं जो ॥
भ्रू मध्य करहिं दृष्टि केन्द्रित, प्राण अपान समकरें ।
वश करहिं मन बुद्धि इन्द्रिय, मुक्त हो नित बिचरें ॥

सुहृदय स्वामि मैं सबकर, अरु भोक्ता तप यज्ञ ।
जानहिं जे अस मोहिं ते, शांति प्राप्त मर्मज्ञ ॥

॥ इति पंचमोऽध्यायः ॥

# अथ षष्ठोऽध्यायः

## आत्मसंयम योग

**श्री भगवान उवाच**

छोड़ कर्म फल कांक्षहिं, करे योग कृत कार्य ।
संन्यासी योगी सोइ, निराग्नि अक्रिय पार्थ ॥

जे संन्यास सो योगी जानहु। त्याग संकल्प नहिं योगी मानहु ॥
हेतु योगार्थ कर्म निष्कर्मा। रहित संकल्प हेतु हित धर्मा ॥
होय न कर्म्रेन्द्रिय आसक्ती। योगारुढ संकल्प विरक्ति ॥
उद्धारहिं निज पतन न होई। आप बन्धु-रिपु आत्महिं सोई ॥
जे विजयी निज तन मन इन्द्रिय। आत्म बन्धु सोइ आत्मा जीतिय ॥
तन मन इन्द्रिय वश जिन नाहीं। आत्म शत्रु समझहु निज मांही ॥
मानापमान सुख दुख शीतोष्णाहिं। ज्ञान विज्ञान तृप्त जित इन्द्रिय ॥

बन्धु मित्र हिंसक अरु, अरि उदास मध्यस्थ ।
पापी साधु सन्त महं, हो समदर्श विशिष्ट ॥

अकाम अपरिग्रह सतत एकाकी। आत्मयोग संयत मति जाकी ॥
चर्म कुशा शुचि भूमि समतल। बिछाय लगावहिं आसन निश्चल ॥
मनहिं एकाग्र रोक चित इन्द्रिय। योगाभ्यास नित शुद्ध आत्महिं ॥
काया ग्रीवा, शिर कर निश्चल। दृष्टि नासाग्र पहं राख अचंचल ॥
संयत शान्त अभय लय स्थिति। ब्रह्मचर्य महं रम रमाय चित ॥
योगी यती निजात्म नित ध्यावहिं। श्रेष्ठ मोक्ष पद मोकहं पावहिं ॥

योग न अति मोजी कहं, नहिं नितान्त अभुक्त ।
अर्थ न जो सोवे अति, अथवा शयनहिं मुक्त ॥

असन बिहार शयन जो संयत। कर्म सुयोग्य योग दु:ख भंजक ॥
आत्म स्थित संयत चित्ता। निस्पृह सो कहाहिं योग युक्ता ॥

जिमि दीप होय निर्वात अचंचल। तिमि मन वश प्रभु पद थिर पल ॥
चित्त निरुद्ध योगहिं उपरामा। दर्शन, तोष आत्म विश्रामा ॥
इन्द्रिय मुक्त बुद्धि अति सूक्ष्मा। योगीहिं अनुभव आनन्द परमा ॥
यह क्षण सकल योग कर जानहु। लोभ पाय अस अन्य न मानहु ॥

दुख संयोग हीन जहं, स्थित समुझ सो योग ।
अन्तर्मन तहं उत्साहित, साध सुनिश्चय योग ॥

संकल्प जन्य सब इच्छा त्यागहिं। अंकुश मन इन्द्रिय पै राखहिं ॥
करहिं अभ्यास धृत बुद्धि क्रम ते। तनिक न सोच आत्मस्थ मन ते ॥
जहं तहं फिरे डोल मन अस्थिर। यतन ते बार बार निज वशकर ॥
शान्त मनस निष्पाप सदाहीं। यह ब्रह्मभूत-सुख समाहीं ॥
ये साधन आत्मदर्श अकल्मष। योगी पावहिं ब्रह्मानन्द सुख ॥
देखहिं आत्मा सर्वभूत महं। सर्वभूत सोइ निज आत्मा महं ॥

सर्व व्याप्त यह चेतन, आत्मा महं सर्वभूत ।
समदर्शी समभाव हो, योगी आत्म स्वरूप ॥

मैं सबमें सब कहं मो पाहीं। मोहिं न अप्राप्त मैं अप्राप्त नाहीं ॥
सर्व भूतस्थ मान भज योगी। रहेउ बर्त तस जस बर्त्तेऊ मोहीं ॥
सर्वत्र आत्मोपम समबुद्धि चेष्टा। सुख या दुःख लख योगी श्रेष्ठा ॥

## अर्जुन उवाच

साम्य योग मोकहं जो भाष्यो। चित चंचल महं थिर कस राखों ॥
महाबली चित अति चिर चंचल। निरोध कठिन वायु सम हलचल ॥

## श्री भगवान उवाच

मन चंचल दुसाध्य यह निश्चय। अभ्यास विराग साध्य होय यह ॥
दुसाध्य योगसिद्धि अतिन्द्रिय कहं। यतन ते सुलभ यती साध्य कहं ॥

## अर्जुन उवाच

जो च्युत होवहिं योग से, सिद्धि न पावहिं योग ।
श्रद्धायुक्त अयत्न की, केशव क्या गति होय ॥

ईश प्राप्त मग मोह निराश्रित। घन सदृश्य दुहूं भांति भ्रष्ट गति ॥
शंका मोर हरिय मधुसूदन। नहिं तुम बिन कोउ हरे विषाद भ्रम ॥

## श्री भगवान उवाच

लोक परलोक नाश नहिं कबहूं। पार्थ सुलभ धर्मात्म गति तबहूं ॥
पुण्य लोक बहु काल बिताय नर। योग भ्रष्ट जन्में श्री मन्त धर ॥
किंवा श्री मन्त योग कुल जन्में। पार्थ जन्म अस दुर्लभ जग में ॥
बुद्धि संयोग अस पाय पूर्व तन। संसिद्धि हेतु पुन करे सुयतन ॥

कर उल्लंघन योग जिज्ञासु समबुद्धि वेद वचनहिं ।
संस्कार गत जनम अनेक सो, यतन पाहिं योगहीं ॥
यतन से अभ्यास कर पुनि, कर्म बंधन काटहीं ।
पार्थ सोयहि जनम मांहि मोक्ष की गति प्राप्तहीं ॥
क्रिया कर्म तपस्व व ज्ञानी होय सबसे सदा ।
सो मान अस श्रेष्ठ योगहिं गहहु पार्थ योगहिं मुदा ॥

सकल योगिन्ह महं श्रेष्ठ सो, अबश जानिए ताहि ।
मदगत श्रद्धायुत भजे पार्थ मोहिं मन लाइ ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

# अथ सप्तमोऽध्यायः

## ज्ञान विज्ञान योग (प्रपत्ति योग)

**श्री भगवान उवाच**

योग युक्त मम आश्रित, आसक्त पार्थ मम होइ ।
मोहिंजानहु निर्भान्त जस, सुन कहहुं अब तोहि ॥

कहहुं ज्ञान विज्ञानहिं विधिवत। ज्ञातव्य ने लेश जान लेहु जब ॥
कोउ एक होय सहस्त्र महं योगी। तत्वज्ञ बिरल लय यत्न सुयोगी ॥
भू जल अग्नि वायु आकाश। मन बुद्धि अहं प्रकृति गुण आठ ॥
अष्ट प्रकृति विभक्त कर जानहु। नाम परा अपरा तेहि मानहु ॥
परा प्रकृति चेतन जग माहीं। अपरा प्रकृति जड़ रहत सदाहीं ॥
दोउ प्रकृति जग उत्पति कारण। मैं जग सृष्टा अरु संहारण ॥
पृथक न कछु मोहिं ते जगमांही। गुंथ्यो सूत ज्यों माला मांही ॥

जानहु जल महं रस मोहिं, विभाचन्द्ररवि ज्योत ।
शब्द व्योम पुरुषार्थ नर, बेद माहिं श्री ओम ॥

अग्निहि तेज भूमि महं गधा। जीवन भूत तप तापस वृन्दा ॥
सर्व भूत मैं बीज सनातन। तेज तेजस्वि ज्ञान सुधीजन ॥
बल बलवान विगत रह कामा। प्राणिन्ह सेव्य धर्मयुत कामा ॥
उपजहिं भाव सत रज तम से। मोहि ते मोहिमय मैं नहिं उनते ॥
सब जग मुग्ध त्रिगुणात्म सुरूपा। मैं अज्ञात अविनाश निरूपा ॥
त्रिगुणमयीं माया दुस्तर अति। मम शरणगतिहु पाव भव मुक्ती ॥
दुष्ट दुष्प्रवृत्ति न मो पहं आवहिं। माया भ्रान्त सो असुर कहावहिं ॥

सुकृत व्यक्ति मोहिं जे भजे, प्राणी चार प्रकार ।
आर्त्त जिज्ञासु अर्थाथी, ज्ञानी धर्मानुसार ॥

अन्यान्य भक्त ते ज्ञानी श्रेष्ठा। मैं ज्ञानी प्रिय मोहिं ज्ञान विशिष्टा ॥
यद्यपि सब उदार अरु श्रेष्ठा। मो स्थित युक्तात्म विशिष्ठा ॥

बहु जन्मान्त होय कोउ ज्ञानी। सर्वस्व जान बसुदेव बखानी ॥
अज्ञानी मुग्ध सकाम भाववश। देवन्ह भजहिं विधि विधान जस ॥
अर्चनेच्छु भक्त ध्याव जे रूपा। श्रद्धा प्रकृति स्थिरहुं स्वरूपा ॥
अर्चन करहिं साध श्रद्धायुत। मम विधान ते फले काम सब ॥
अल्प बुद्धि कहं नाशवान फल। पूजहिं देव जाय न निष्फल ॥

अविनाशी अनुपमनित, मम माया तत्व प्रभाव ।
अज्ञ पुरुष नहिं मानिय, नर समकर बर्ताव ॥

योग ते लुप्त प्रत्यक्ष न प्रगटों। मूढ़ अज्ञान अविनाश नित्य कहुं ॥
जो हैं हुइ हैं पार्थ सो आगे। मोहि ज्ञात सो प्राण जिन त्यागे ॥
जानहुँ सबहिं न जान मोहीं कोउ। पार्थ मोहवश श्रद्धा खोई ॥
इच्छा द्वेष जनित सुख दुखा। अज्ञान ते मोह जीव जग लेखा ॥

निष्काम भाव जे करहि श्रेष्ठ कर्म आत्मनिष्ठ हो ।
मोह जनित सब राग द्वेष, नासहिं पाप ते मुक्त हो ॥
ममाश्रर्या यती जगतमंह, ध्याव मोहिं मनहि सो ।
यत्न तेकर प्राप्त पावे, मुक्ति जरा मरण सो ॥
ते जान पूर्ण ब्रह्म कहं, नित अध्यात्म कर्म से ।
पार्थ सोइ मनुज सार्थक, ज्ञानी ज्ञात एक ब्रह्म ते ॥

साध यज्ञ मोहि जानि हैं, साभि भूतादि देव ।
आनहु अन्तकाल ते, प्राप्त मोहि सदैव ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

# अथ अष्टमोऽध्याय:

## अक्षर ब्रह्म योग (सातत्य योग)

### अर्जुन उवाच

ब्रह्म कर्म अध्यात्म बताइय। अधिभूताधि ताहि समुझाइय ॥
को अधि यज्ञ शरीर केहि कारण। किमि यती ज्ञेय आप अंतक्षण ॥

### श्री भगवान उवाच

परमब्रह्म सो अक्षर माहीं। जीवात्म भाव अध्यात्म कहाहीं ॥
भूतहि सृजहिं सृष्टि कर्म सो। पार्थ निसंशय समुझ सतर्क हो ॥
उद्‌भव विनाश अरु उदभव सृष्टि। सो अधिभूत जानहु निश्चित ॥
प्राण पुरुष आधिदेव सदाहीं। व्याप्त अधियज्ञ सो कणकण माहीं ॥

धरहिं ध्यान जे अन्त मोहिं त्यागहि तन संसार ।
पार्थ निसंशय प्राप्तहिं प्रकृति सो गुण आधार ॥

तन त्याग करहिं जो भावध्यान नर। तदभाव लीन सोइ भाव प्राप्त कर ॥
पार्थ राखि मोहि मनहिं करहु रण। पावहु मोहिं बुद्धि मन अर्पण ॥
थिर मुक्त मन अभ्यास योग नित। पावहिं दिव्य पुरुष हो तदचित ॥
नित मन रमहिं अनादि नियन्ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अचिन्त्य अनन्ता ॥
तम से पर आदित्य भास सम। सूक्ष्मातिसूक्ष्म सर्वज्ञ शाश्वत ॥
ध्याव जो अन्तकाल निर्मलमति। योगहिं युक्त अटल सद भक्ति ॥
भ्रकुटि मध्य निज प्राण टिकावे। पुरुष दिव्य कहुं निश्चय पावे ॥

अक्षर वेद वैराग्य हो, सयत्न ध्याव मुनि पार्थ ।
ब्रह्मचर्य मय आचरण सो संक्षिप्त यथार्थ ॥

इन्द्रिय द्वार रोक अंतश्चित। धारे योग प्राण शीर्ष चित ॥
स्वरहिं एकाक्षर ॐ उच्चारे। परम धाम तन त्याग पधारे ॥
सतत अनन्य मोहिं भज जे नर। सुलभ नित्य अस युक्ति निरंतर ॥

पावहिं श्रेष्ठ महात्म सिद्धि युत। पाव न दुःख पुनर्जन्म अशाश्वत् ॥
पुनरावर्त ब्रह्म लोकादि सब। मोहिं पाय नहिं पुनर्जन्म तव ॥
गणना एक दिवस ब्रह्मा की। एक सहस्त्र युग सीमा जाकी ॥
तैसइ सीमा रात्री मानहु। तत्त्व ते काल पुरुष कहं जानहु ॥

लेवहिं जन्म अव्यक्त से व्यक्त दिवस प्रारंभ ।
निशागमन महं सर्व ही, लय सो सूक्ष्म ब्रह्म ॥

प्राणी समूह सो जन्महिं प्रतिक्षण। शयन रात्रि अरु दिवस जागरण ॥
अव्यक्त ते अव्यक्त विलक्षण। नाश भूत अरु नाश न एक क्षण ॥
परम अव्यक्त अविनाश धाम मम। फिरे न सो जहं जाय भक्त मम ॥
प्राप्त अनन्य भक्ति सोई निश्चल। ब्रह्म अव्यक्त सो व्यापे प्रतिपल ॥
योगी लौट सो काल त्याग तन। लौट न योगी प्राणान्त काल पुन ॥
काल दोउ कर वर्णन करहूं। समुझ पार्थ जेहि ध्यान ते गुनहू ॥

अग्नि ज्योति पक्ष शुक्ल षण्मास उत्तरायण देवगण ।
सो पथ तन त्याग पावहिं, निष्काम योगी लोक परम ॥
धूम्र रात्रि कृष्ण पक्ष दक्षिणायन षण्मास हो ।
सकाम योगी सो काल लौट, पाव चन्द्रमहिं ज्योति को ॥
सब दिन सनातन लोक माहिं कृष्ण शुक्ल मार्ग द्वय ।
एक पथ सो लौट आवहिं दूजे पथ तहं मुक्त हुय ॥
पथ तत्त्व जे जान दोऊ, नहिं मोह योगी कबहुं ।
पार्थ सर्व काल यत्न एहि, योग युक्ति ते सुख गहहु ॥

यज्ञ दान तप वेदहिं, मिले पुण्य फल जोइ ।
तत्त्व ज्ञान ते योगी जन, सहजहिं त्यागें सोइ ॥

॥ इति अष्टमोऽध्याय ॥

# अथ नवमोऽध्याय:

## राजविद्या राजगुह्य योग

**श्री भगवान उवाच**

पार्थ देहुं मैं ज्ञान, विज्ञानमय अति गुह्यम् ।
अशुभ मुक्त एहिजान, निष्पाप अदोष भक्त मम् ॥

श्रेष्ठ स विज्ञान गोप्य सो परमा। सहज सुगम सुबोध सत्कर्मा ॥
धर्म श्रेष्ठ श्रद्धा विहीन नर। अप्राप्त मोहिं भटकहिं भवसागर ॥
मैं अव्यक्त परिव्याप्त जगत महं। मोहि में सर्वभूत नहि उन महं ॥
रक्षक पालक अरु मैं सृष्टा। स्थिति कबहुं नाहिं तिन्ह भूता ॥
मरुत संचार सर्वत्र व्योम जिमि। मो महं विचरे सर्वभूत तिमि ॥
कल्पान्त विलीन प्रकृति मो मांही। सृजहूं पुन: कल्पादि यथाहीं ॥

लेवहुं मैं निज प्रकृति तहं, जाहि भूत आधीन ।
पुन पुन सृजहुं भूत सब, कर्म जो जस कीन्ह ॥

उदासीन अनासक्त कर्म ते। यदपि नाहिं मैं बन्ध्यो कर्म से ॥
मम अधिष्ठात चराचर माया। फिरे चक्रभव प्रकृति सृजाया ॥
जो भूतेश श्रेष्ठ नहिं जानहिं। मूढ़ अवज्ञा ते नर मानहिं ॥
बृथा आश कर्म ज्ञानी जन। प्रकृति मोह असुर राक्षस सम ॥
सदा प्रकृति आश्रित योगी चित। आदि अविनाश कहं भजे सो नित ॥
गुण व्रत नाम सुकीर्त्तन भक्ति। नित मोहिं ध्यावहिं दृढ़ प्रवृत्ति ॥

बहुधा ज्ञान सो ज्ञान यज्ञ, सहित भेद अविभेद ।
पृथक-पृथक नित पूजहिं, भक्ति ज्ञान गुण वेद ॥

मैं क्रतु यज्ञ स्वधा औषधि घृत। मंत्र अग्नि अरु हवन क्रिया सब ॥
जगत मात पितु घात पितामह। यजु ऋग ॐ सामवेद तहं ॥
भर्त्ता स्वामी सुहृदय साक्षी। गति आवास आश्रय उत्पत्ती ॥

मैं लय स्थित बीज निधाना। अविनाश सदैव एक भगवाना ॥
तपहुं खींच जल बृष्टि गिराऊं। अमृत मृत्यु सत असत कहाऊं ॥

पूजहिं मोहिं जे स्वर्ग सुख हित यज्ञ सोमयानी करहिं ।
त्रैविधि सकाम पुण्य प्रभावहिं स्वर्ग लोक विराजहिं ॥
स्वर्ग लोक सुख भोग पुन ते, मृत्यु लोक फिर आवहिं ।
त्रिधर्म आश्रित सकाम पुन पुनः जाय-लौट सो आवहिं ॥

अनन्य निष्ट जे नर भजहिं, निष्काम निरन्तर मोय ।
सदा वहन तिन कर करों योग क्षेम कौन्तेय ॥

भज सकाम अन्य देव श्रद्धान्वित। पूजहिं मोहिं अज्ञानता प्रेरित ॥
कारण सकल यज्ञ भोक्ता मैं। तत्त्व बिना ते गिरहिं धरावैं ॥
पूजहिं देव सो प्राप्तहिं देवहिं। पितर पूज जे पावहिं पितरहिं ॥
भूतन्ह पाव भूत कर साधक। मोहिं ध्याव जो पाव सदाभक्त ॥
पत्र पुष्प फल तोय समर्पित। स्वीकारहुं सब श्रद्धा अर्पित ॥
भोज कर्म हवन दान तप। पार्थ समर्पहुं सबहिं सोमम हित ॥

शुभ अरु अशुभ कर्म फल सो विमुक्त अस होय ।
संन्यास योग युक्तात्मा, निश्चय पावे मोय ॥

सम मैं सर्वभूत प्रिय अप्रिय। मम महं भक्त वसौं हृदय तिन्ह ॥
अति दुष्कर्मी भजे श्रद्धायुत। गनिय ताहि साधु सम निश्चित ॥
हुइ धर्मात्म पाइय शाश्वत सुख। जानहु भक्त मम नाश नहि दुखः ॥
नारी वैश्य शूद्र पापात्मा। दिव्य शरण मम मुक्त जीवात्मा ॥
भक्त विप्र राजर्षि सो अतिमल। पुण्यशील हो भजे छांडि छल ॥

पार्थ अनन्य भक्त हुय, पूजहिं मोहिं नित्य ।
मोहि पाव तस होवहिं, लीन सदा अव्यक्त ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

# अथ दशमोऽध्याय:

## विभूति योग

### श्री भगवान उवाच

पार्थ कहहुं हितकांक्ष सोइ, सुन प्रसन्न सदप्रीत ।
परम रहस्य प्रभावयुत वाणी दिव्य पुनीत ॥

आदि न मोर देव ऋषि जानहिं। तिनहि निमित्त मैं रहउं सदाहीं ॥
तत्त्व जे जान अनादि अज इशहिं। ते नर देह ज्ञानी अध मूकहिं ॥
मोहि ते उपज भाव विध क्षमता। ज्ञान असंमोह बुद्धि सत्यता ॥
शम दम क्षमा भय अभय अहिंसा। तप दान यशायश कीर्ति विषमता ॥
मनु सनकाहि सप्त ऋषि सब। मम संकल्प ते उत्पति एहि जग ॥
मम योग विभूति शक्ति सोइजाने। अचल योग दृढ भक्ति उर आने ॥

उत्पति कारण मूल मैं, संचालक सब सृष्टि ।
जे श्रद्धायुत अस मानहिं, ते ज्ञानी भाव समुच्य ॥

करहिं परस्पर मम गुण पाना। कथहिं रमहिं संतुष्टि मम ध्याना ॥
प्रेम भाव नित भजहिं जे मोही। बुद्धि देहुं अरू पावहिं मोही ॥
कृपा करों आत्मस्थ भाव मैं। अज्ञान हरउँ कर ज्ञान दीप तें ॥

### अर्जुन उवाच

प्रभु परब्रह्म परधाम सुपावन। आदि, अजन्म विभु दिव्य चिरन्तन ॥
व्यास असित देवल ऋषि नारद। करहिं गान जेहि कथ्यो यथावता ॥
मोहिं जो कहेउ सत्य सब मानहुं। तव स्वरूप सुर असुर न जानेउ ॥

आपुहि जानहु स्वयं को, हे पुरुषोत्तम नाथ ।
भूतेषु भूत भावन प्रभु देवाधि देव जगन्नाथ ॥

दिव्य विभूति कहेउ निज गई। क्षण क्षण त्रिलोक व्याप्त यदुराई ॥
योगेश्वर मोहिं कहिये कृपाकर। धरों स्वरूप करिमनन ध्यान उर ॥
विस्तार कहिये विभूति सोइ रूपा। तृपित न मैं वचनामृत भूखा ॥

## श्री भगवान उवाच

कहेउं प्रमुख निज दिव्य विभूती। अंत न पार यदपि अनुभूती ॥
सर्वभूत मैं हृदयस्थ आत्महिं। आदि मध्य अन्त परमात्महि ॥
गण आदित्य विष्णु मोहि जानिय। ज्योत प्रभाकर रूप सो मानिय ॥
मरुत मरीचि बेग मैं प्रतिक्षण। शशि अधिपति सब नक्षत्रन्ह महं ॥

सामवेद सब वेद महं, देवन्ह माहीं इन्द्र ।
इन्द्रियन मांहि मैमन, प्राणिन्ह चेतन चिन्ह ॥

रुद्रण शिव वित्तेश कुबेरा। वसुहिं अग्नि अरु गिरिन्ह सुमेरा ॥
प्रधान पुरोहितन्ह अहहुं बृहस्पति। सलिलन्हसागर स्कन्द सैन्यपति ॥
शब्द ओंकार महषिन्ह भृगु। गिरिन्ह हिमालय जप मख यज्ञहु ॥
नारद देव ऋषिन्ह तरु पीपल। गंधर्वन्ह चित्र सिद्धन्ह में कपिल ॥
अमृत संभव उच्चै तुरगन्ह। नरन नराधिप ऐरा-गज महं ॥
वज्र आयुधन्ह कामघेनु धेनुन्ह। प्रजनन काम वासुकी सर्पन्ह ॥

नागन्ह मांहि अनन्त मैं, जलधर वरुण सो जान ।
पार्थ पितर बिच अर्यमा, संयम यम पहचान ॥

दैतन्ह प्रह्लाद काल गणकन्हीं। खगन्ह वैनतेय व्याघ्र षशुवनहिं ॥
मारुत पावन कर्मन्ह जानउ। आयुध-धारी शमहिं ध्यावउ ॥
मनिन मांहिमकर मैं पार्थ। गंगा स्त्रोतन्ह नाम यथार्थ ॥
आदि मध्यान्त चराचर मांही। अध्यात्म ज्ञानन्ह वाद वदाई ॥
समासन्ह द्वन्द अक्षरन्ह अकार। काल अक्षय सर्वतोन्मुख धारा ॥
मृत्यु अहहुं मैं जग संहारण। भविष्य अहहु उदभव उद्धारण ॥

नारिन्ह मांहि कीर्ति मैं, बाणी मांहि श्रीय ।
स्मृति मेधा क्षमा धृति, जानहु पार्थ स्वकीय ॥

वृहत्साम सो श्रुतन्ह छन्दन्ह गायत्री कहहिं ।
बसन्त सब ऋतुन्ह, मासन्ह मार्गशीर्ष में ॥

बंचक द्यत तेजविन्ट तेजा। सत्वपुरुषन्ह सत्व व्यवसाय जयेजा ॥
बैष्णवन्ह कृष्ण पाण्डवन्ह अर्जुन। व्यास मुनीसन्ह शुक कविवृन्दन ॥
अपराधिन्ह दण्ड सुनीत जयार्थी। गुह्यन्ह मौन ज्ञान ज्ञानार्थी ॥

सम्पूर्ण भूत बीज कारण, अहहुं मैं सुन धनंजय ।
रह न चराचर भूत कोई क्षणहु भर बिन कृपावह ॥
दिव्य अनेक अनन्त विभूत अन्त जाहि न कबहूं ।
संक्षिप्त कहेउं तव हित धनंजय माला उदाहरण सुनहू ॥
शक्ति विभूत क्रांति कारण, हो विमण्डित तत्व जो ।
मम दिव्य तेज अंश मानहु कारणहिं अभिव्यक्ति सो ॥

अधिक ज्ञान करि हो कहा, कहा काम जग माहिं ।
योग शक्ति एक अंश में, स्थित जगत सामंहि ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

# अथ एकादशोऽध्याय:

## विश्व रूप दर्शन योग

### अर्जुन उवाच

विनयपूर्णअतिआग्रह, कहेउअध्यात्मजोगुप्त ।
सुन तव वचनामृत अस, भयउं मोह ते मुक्त ॥

प्रभव संहार भूतन्ह विस्तारा। अक्षय महिमा गुण सुने अपारा ॥
देखन चहउं जो कहेउ जनार्दन। तव ऐश्वर्य रूप इन नयनन ॥
जो योगेश्वर भल यदि मानो। तव अविनाश रूप कहि आनो ॥

### श्री भगवान उवाच

देखउ दिव्य रूप छबि नाना। अनुपम आकृति वर्ण विधाना ॥
रूद्र वसु आदित्य अश्विनेया। मरुत आश्चर्य पूर्व नहिं येहा ॥
पार्थ लखउ यह विश्व चराचर। इति तन प्रगट लखउ सो मन भर ॥
चाहहु सो देखउ करि इच्छा। लखउ सोइ जनि करहु प्रतीक्षा ॥

किन्तु न देख सकहु तुम, इन चर्म चक्षु ते रूप ।
अस दृष्टि तो कहं देउं, चक्षु सो दिव्य अनूप ॥

### संजय उवाच

अस कहि महायोगेश्वर, हरि व्यापक चैतन्य ।
दिखरायो तब पार्थ कहुं, एश्वर्य रूप अखण्ड ॥

अर्जुन देख्यो प्रभु कहुं अनगिन। लोचन मुख छवि आयुध भूषण ॥
गन्ध लेप माला दिव्य धारी। वस्त्र दिव्य लख अचरज भारी ॥
सीमा रहित दिव्य भानु जस। प्रकटयो प्रभु विराट कांति अस ॥
देखेउ अर्जुन भिन्न प्रकारा। प्रभु तन केन्द्रित विश्व निहारा ॥
रोमहर्ष विस्मत अति अर्जुन। श्रद्धायुत तब करसि निवेदन ॥

## अर्जुन उवाच

देव देख तव बदन निहारी। संघ भूत बहु देव अधिकारी ॥

ब्रह्म महेश कमलासन, शोभित ऋषिगण साथ ।
छटा दिव्य अरु सर्प लख, तन मन पुलकित नाथ ॥

तव अनन्त मुख भुज अरु नयना। लख चहूं दिशि कछु परे ना ॥
चक्र गदा किरीट अति शोभित। दुसह्य तेज सूर्याग्नि द्दीपित ॥
अक्षर विज्ञ अनन्त जग आश्रय। शाश्वत आक्षर परम पुरुषमय ॥
अनादि मध्यान्त अनन्त वीर्य। अनन्त बाहो शशि सूयू नेत्र ॥
तब आनन सुदीपित अग्नि सम। संतप्त स्वतेजहिं विश्व प्रतिक्षण ॥
भूद्याव व्योम मध्य दिशा महं। सर्व व्याप्त लख भय उपजे तहं ॥

प्रवशहि तव तन देव सब, कर जोरे भयभीत ।
सिद्ध ऋषि उदघोषहिं मंगल मंत्र पुनीत ॥

सब वसु रुद्रादित्य साध्य गण। पितृ मरुत आस्विन सुरगण ॥
यक्ष असुर सिद्ध गंधर्वा। अति विस्मय देखहिं सो सर्वा ॥
बहुमुख दृग उरु बाहु विशाला। उदर जांघ पद रूप कराला ॥
लखि विकट रूप लोक त्रय व्याकुल। केशव दशा आर्त मम आकुल ॥
मुख विस्तीर्ण दृग तन उद्दीपित। देख सो दृश्य अधैर्य भयउं अति ॥
काल कराल आनन दाढन्ह युत। हों दिग्भ्रान्त अशांत मनहिं दु:ख ॥
होउ प्रसन्न अब हे जग स्वामी। करिय कृपा सेवक मोहिं जानी ॥

भूपन्ह सहित धृतराष्ट्र सुत, प्रमुख वीर संघात ।
भीष्म कर्ण गुरु द्रोण सब, प्रतिक्षण मुखहिं समात ॥

लखि दाढ तले कराल आनन सत्वर सवेग समावहिं ।
तिन्ह अनेकन्ह शीश चूर्ण हो, दन्त कराल दिखवाहिं ॥
सरिता जल धावत सवेग, जिमि समावहिं जलधि महं ।
त्यां प्रवीर सब प्रज्वलित हो, द्रुत गति समावहिं मुखन महं ॥
प्रद्दीप्तानल महं पतंग जिमि नाश निमित्त सिधावहीं ।
तैसइ तवानन विनाशार्थ, कोटि कोटि समावहिं ॥

ग्रसहि लोक प्रज्जवलित मुख महं। चाटत ग्रसत सकल विश्व कहं ॥
उग्र तेज अस प्रभो तुम्हारा। तपित समस्त विकल संसारा ॥
अस कवन उग्र रूप तुम धरेउ। प्रभु प्रसन्न हुइ मोहिं उपकारहु ॥

## श्री भगवान उवाच

मैं महाकाल प्रवृत लोक क्षय। बिनसों प्रतिपक्ष छांड तोहिं निर्भय ॥
अत: युद्ध कर शत्रुहिं जीतिय। समृद्धि राज्य सुख सुयश भोगिय ॥
पूर्वहिं कीन्हों नाश वीर सब। मात्र निमित्त सो सव्यसांचि अब ॥

भीष्म द्रोण जयद्रथहिं, कर्ण हतेउ मैं आप ।
तिनहिं संहारण युद्धकर, भय संशय सब त्याग ॥

## संजय उवाच

केशव वाणी सुनतहि अर्जुन। जोर पाणि अति भय कंपित तन ॥
गद् गद् कंठ कहेसि अन्तर्मन। कर प्रणाम बोलो गोविन्द सन ॥

## अर्जुन उवाच

प्रभु तव कीर्त्तन नाम प्रभाऊ। हर्षित मगन गाव अति चाऊ ॥
असुर भीत भागहिं विश्वंभर। नमहिं सिद्ध समुदाय जोरि कर ॥
आप आदिकर्त्ता लोकेशहु। नमहिं काहे न हे करुणेशु ॥
जगनिवास देवेश अनन्ता। परे असत सत ते भगवन्ता ॥

पुरुष प्रधान निधान जग, ज्ञातव्य ज्ञेय सो आप ।
जगआश्रय हे जगत्पते, अनन्त कण कण व्याप्त ॥

वरुण वह्नि मरु शशि यमादी। पिता प्रपिता आपहुं ब्रह्मा भी ॥
शत शत बार नमन प्रभु करहीं। नमन सहस्त्र बार हम करहीं ॥
अग्र पृष्ठ सब ओर प्रणामहिं। समर्थ अनन्त नमन कर मानहिं ॥
व्यापउ सकल विश्व महिमामय। तव स्वरूप जानेउं करुणामय ॥
कहेउं कबहुं सखे कान्ह यादव। बिना विचार पुकारेउं माधव ॥
रहा प्रमाद अचिन्त्य या प्रेमा। असत्कार हास कृत कर्मा ॥
क्षमहु मोर अपराध जनार्दन। कृपा करहु करुणालय भगवन ॥

सचराचर जग के पिता, गुरु श्रेष्ठतम आप ।
समता कहु न लोक त्रय, काह प्रश्न तव नाथ ॥

तब पद नत मैं प्रसाद पार्थी। त्यों तात पुत्र सखा सखार्थी ॥
पति ज्यो प्रिया निज प्राण समाना। तस प्रभु क्षमहु मोर अज्ञाना ॥
पूर्व अदृश्य लखेउं तव रूपा। यद्यपि हर्ष मन भय ते डूबा ॥
देवेश दयामय प्रसन्न हो जाहू। पूर्व भांति मोहिं दरश दिखाहू ॥
गदा चक्र किरीट अब धारिय। मम इच्छा सोइ रूप निहारिय ॥
हे सहस्रबाहु विभु विश्वमूर्त्ति। धारिय पुनः चतुर्भुजमूर्ति ॥

अति प्रसन्न दिखायउं, योगहिं ते विश्वरूप ।
छांडि तोहि न अब लगि, लखेउ पार्थ यह रूप ॥

वेद यज्ञ तप दान क्रिया ते। सम्भव नहि सो देख सकहिं वे ॥
तोहि छांड इह मनुज लोक महं। कवहुं न लखेउ विश्व रूप कहं ॥
होउ न व्यग्र व्यथा विमूढ मन। निर्भय मन पुन लखउ रूप तुम ॥

## संजय उवाच

केशव कह अस धैर्य बंधायो। सौम्य चतुर्भुज रूप दिखायो ॥

## अर्जुन उवाच

देख चतुर्भुज रूप तव अस सौम्य छबि अति जनार्दन ।
भई प्राप्त शांति सचेत मति, प्रकृतिस्थ यह अब मोर मन ॥

## श्री भगवान उवाच

प्रभु कहेउ हे पार्थ लखेउ तुम मम चतुर्भुज रूप जो ।
दर्शनाकांक्षी देवगणहिं अति दुर्लभ दर्शन जान सो ॥
नहिं वेद तपस दान आदि, व्रत यज्ञ ते यह प्राप्त है ।
सुलभ लखेउ तुम रूप सोई, जो कठिन छिन पल अप्राप्त है ॥
किन्तु प्राप्त इहि अनन्य भक्ति ते पार्थ निश्चय मानहु ।
जानेउ देख मोहिं तत्त्वपूर्वक, पाय मुक्ति सिधारहु ॥

कर्त्तव्य कर्म जो जो करहु, भक्ति मत्परा पार्थ ।
निर्बैर निसंग हो सबन सो, पावहु मोहिं यथार्थ ॥

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

# अथ द्वादशोऽध्यायः

## भक्ति योग

### अर्जुन उवाच

एक भक्त अनुरक्त ह्वै दूजो निर्गुण ब्रह्म ।
कवन उपासक श्रेष्ठ इन मोहिं कहिय गोविन्द ॥

### श्रीभगवान उवाच

दत्तचित नित युत भज जे मोहीं। श्रेष्ठ दयालु भगत मम सोई ॥
मानहिं अचल अविनाश एक रस। परे बुद्धि मन अकथ ब्रह्मवत् ॥
समदर्शी साधक इन्द्रिय जित। सो मोहिं पाव पार्थरत परहित ॥
रत अव्यक्त जे श्रम बड़ तिनहीं। कठिन अव्यक्त सदेहहिं मिलहीं ॥
अउर जे सकल कर्म मोहिं अर्पहिं। ध्याय उपास्य अनन्यता वर्त्तहिं ॥
अस मत्पर भगत कहुं पार्थ। भव मृत्यु ते मुक्तहुं वैग यथार्थ ॥

जे निज मन अरु बुद्धि कहं, थिर मोपहं कर देहिं ।
अति सुख निश्चित पावहिं, बसहिं पार्थ मम गेह ॥

जौ समर्थ नहिं अचल करहु मन। करहु प्राप्त सो योग ते अर्जुन ॥
जे असमर्थ योग ते मम हित। सिधि तो कर्म परायण निश्चित ॥
जो अशक्य तो संयत बुध मन। त्याग कर्मफल शरण योग मम ॥
अभ्यास ते श्रेष्ठ ज्ञान तेहि ध्याना। तेहि ते त्याग फल शांति प्रमाना ॥
निर्द्वेष क्षमा सवहि करुणालय। दुख-सुख सम निर्मम अहंकारक्षय ॥
नित संतुष्ट सदा दृढ़ निश्चय। अर्पित बुधमन भगत मोहि प्रिय ॥

द्वेष हर्ष नहिं कामना, सोच करे नहिं काहु ।
त्यागी कर्म शुभाशुभ, भगत सो मोहिं भाव ॥
जो व्यथा बांछय विहीन चतुर, श्रेष्ठ बाहर भीतरो ।
परित्याग सर्वारम्भ नित भगत अस मोहि भाव सो ॥

नाहिं हर्ष न द्वेष कबहुं बाछां सोच नहिन जिसे ।
त्याग देहिं कर्म शुभाशुभ, भगत प्रियमो मन बसे ॥
शत्रु मित्र तुल्य जाहि मानापमानहिं सम रहे ।
आसक्ति रहित शीतोष्ण सुख दुःख, सम सदा जीवन चरे ॥
नाहिंन गने स्तुति निन्दा, यथा प्राप्त संतुष्ट जो ।
मनन शील अरु धीरमति, अगेह प्रिय सर्वोच्च सो ॥

धर्मामृत यथोक्त जे, नित निष्कामहि सेव ।
भक्त श्रेष्ठ दयालु सो, अति प्रिय मोहि कौन्तेय ॥

॥ इति द्वादशोध्यायः ॥

# अथ त्रयोदशोऽध्यायः

## क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

**श्री भगवान उवाच**

पार्थ ख्यात आदि जो, क्षेत्रहिं नाम शरीर ।
जानहिं जो क्षेत्रज्ञ अस, कहहिं विज्ञ जन धीर ॥

मोहिं क्षेत्रज्ञ क्षेत्र कर जानहु। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ सोज्ञान बखानहुं ॥
कहहुं कवन कस क्षेत्र विकारा। प्रगटि प्रभाव क्षेत्रज्ञ प्रसारा ॥
पृथक पृथक ऋषि निज मत गायो। ब्रह्म-सूत्र मय युक्ति समायो ॥
पंचभूत बुद्धि अरु अहंकारा। माया मूल प्रकृति विस्तारा ॥
ज्ञान कर्म इन्द्रिय दस जानो। इन्द्रिय पाँच गोचर पञ्च मानो ॥
इच्छा सुख-दुःख द्वेषहिं नाना। पिण्ड चेतना धृति प्रगटाना ॥

अदंभ अमानी अहिंसक क्षमा शौच गुरु सेव ।
ऋजुता आत्मनिग्रही, स्थिर बुद्धि सदैव ॥

अनहंकार चित विरक्त वासना। जन्म मृत्यु दुःख गुण विवेचना ॥
अनासक्त गृह धन सुत-दारा। नित प्रिय अप्रिय सम व्यवहारा ॥
ध्याव मोहिं अविचल भक्तिमय। रहि एकान्त नवास दुर्जन तहं ॥
तत्त्वनिष्ठ अध्यात्म ज्ञान नित। ज्ञान सोइ जो अज्ञान विपरीत ॥
कहहुं ज्ञेय सो मोक्ष अनन्दा। अनादि ब्रह्म सत असत अखण्डा ॥
पग दृग हस्त कर्ण शिर आनन। रचना व्याप्त सकल जग धारण ॥

सर्वेन्द्रिय गुणमास जो, सर्वेन्द्रिय विहीन ।
निर्गुण गुण भोक्ता सकल, भवपोषक निस्सीम ॥

अंतरबाह्य भूत जड़ जंगम। अज्ञेय सूक्ष्म सुदूर निकटतम ॥
अभक्त भूत संस्थित विभक्त सम। प्रगट सो भूत पृथक पृथक तिमि ॥
ज्योत जो ज्योतिर तमते परे। बोधगम्य बस सब उर नेरे ॥

क्षेत्र ज्ञान संक्षिप्त अनूपा। तत्त्व ते प्राप्त भक्त मम रूपा ॥
दुहूं अनादि प्रकृति अरु पुरुषा। प्रकृति त्रिगुण कारण गुण दोषा ॥
विधि हरि शंभु रूप सो धारण। प्रभव प्रलय पोषण जेहि कारण ॥

कारण कार्य कारणहिं, हेतु प्रकृतिहि जान ।
सुख दु:ख भोग जीवात्मा, अस विवेकमय ज्ञान ॥

पुरुष प्रकृतिगत कारण भोगा। प्रकृति जन्य शुभ अशुभ संयोगा ॥
देहपुरुष परमात्मा अदृष्टा। भोक्ता भोग अनुमंत उपद्रष्टा ॥
प्रकृति पुरुष गुण भेद जे जानहिं। बर्त्त कर्म पुनि जन्म न आनहिं ॥
कोउ धरि ध्यान आत्म डर मांही। ज्ञान योग कोउ कर्म ते पांही ॥
जे नहिं ईश तत्त्व गुण जाना। गुण सुनि तर भव बिन जलयाना ॥
यावत जीव चराचर जेते। सो सब पुरुष प्रकृति इन प्रगटे ॥

विनाश चराचर भूतन्ह थित अविनाश सर्वज्ञ ।
जे समभाव निरखहहिं दृष्टा सोइ मर्मज्ञ ॥

समवस्थित जे ईनाहिं लखहीं। निजात्म घात नहि भवनिध तरहीं ॥
लखहिं कर्म प्रकृति कृत जानी। योगी सोइ अकर्त्त निज मानी ॥
विविध रूप एकस्थ जे जाना। विस्तार विश्व उन ब्रह्म समाना ॥
अगुण अनादि ईश अवनीशा। देहस्थ अकर्त्त अलिप्त जगदीशा ॥

सूक्ष्म कारण व्योम व्याप्त, तनिक नहिं जो लिप्त है ।
तिमि सर्व व्याप्त ब्रह्म निर्गुण, आत्म देह अलिप्त है ॥
आकाश महं ज्यों एक रवि समस्त ब्रह्माण्ड प्रकाश है ।
तिमि जड़ जगत विस्तार प्रकाश एक आत्म प्रकाश है ॥

भेद क्षेत्र क्षेत्रज्ञ कर, भूत प्रकृति अरुमोक्ष ।
ज्ञान दृगन ते पावहिं, परमब्रह्म सर्वोच्च ॥

॥ इति त्रयोदशोध्याय: ॥

# अथ चर्तुदशोऽध्यायः

## गुण त्रय विभाग योग

**श्री भगवान उवाच**

जानत मुनिगण सो सकल, पाई सिद्धि महान ।
ज्ञानन्ह महं अति श्रेष्ठ सो, सुनहु पार्थ धर ध्यान ॥

साध्य कर्म पाव जिन ज्ञाना। मृत्यु जन्म दु:ख मुक्ति पिछाना ॥
भूतन्ह योनि प्रकृति मम जोई। बीज चेतनहिं गर्भित होई ॥
योनि अनेकन जन्महिं प्राणी। माता प्रकृति तात मोहिं जानी ॥
उपज प्रकृति सत रज तम गुण। सोइ जीवात्म तन कहं बन्धन ॥
सतगुण निर्मल रहित विकारा। ज्ञान सुखहिं तन बन्धन सारा ॥
तृष्णा उपजे राजस गुण नित। बांधे जीव कर्म फल प्रेषित ॥

मोहित करे तमोगुण, नित अज्ञानी जीव ।
निद्रालस्य प्रमाद वश, बन्धन मूल अतीव ॥

सुख में सत्त्व कर्म रज लागहिं। तमस प्रमाद ज्ञान कहं ढाकहिं ॥
दोउ गुण दबे एक गुण उभरहिं। रज तम दबे तो सतगुण उबरहिं ॥
सब तन द्वार जो वृद्धि प्रकाशा। जानहु पार्थ सो सतगुण आशा ॥
लोभ प्रवृत्ति इच्छा अशान्त मन। तेहि ते बढ़े प्रबल रजोगुण ॥
जबहिं बाढ तामस तन अर्जुन। मोह प्रमाद आलस तेहि कारण ॥
सत्त्व वृद्धि यदि मरणहिं काला। दिव्य लोक पावहिं तत्काला ॥

जन्महिं कर्म आसक्ति जे, मरण तमोगुण पाय ।
मृत्यु तमोगुण होय जो, नीच योनि जन्माय ॥

पुण्य कर्म फल अमल सतोगुण। फल दु:ख रजस अज्ञान तमोगुण ॥
सत ते ज्ञान लोभ ते रजगुण। मोह प्रमाद तामसहिं कारण ॥
सत ते ज्ञान लोभ ते रजगुण। मोह प्रमाद तामसहिं कारण ॥

उच्च सात्त्विक मध्य राजसी। निम्न जघन्य सो वृत्ति तामसी ॥
त्रिगुण भिन्न कर्त्ता जग नाहीं। दृष्टा लख प्रतिक्षण मन माहीं ॥
गुणातीत मोहिं जाने ईश्वर। तेहि क्षण पाव रूप मम सो नर ॥
उद्भव मूल तन त्रिगुण जे जीता। पावहिं सुधा जन्म दुःख छूटा ॥

## अर्जुन उवाच

केहि लक्षण आचरणहि, लख नर त्रिगुणातीत ।
त्रिगुण तरे केहि विधि सो, माधव कहिये सप्रीत ॥

## श्री भगवान उवाच

आलोक मोह प्रवृत्ति पार्थ, आकांक्ष दुःख निवृत्ति नहिं ।
उदासीन सम डिगहिं न गुण ते वर्त्त गुण चिर चित रहहिं ॥
स्वस्थ सुखा सौख्य सम अरु पाषाण सुवर्ण रज जिन्हें ।
इष्ट अनिष्ट स्तुति निन्दा, धीर सम हुय गनहिं वे ॥
मानापमान शत्रु मित्र, जिन माहिं नहिं कछु भेद है ।
सर्वारम्भपरित्यागी, त्रिगुणातीत अखेद है ॥
भक्ति अनन्य योग युत जे, मोंहिं भजहिं सर्वदा ।
त्रिगुण मुक्त जयी होइ, पाव ब्रह्म सुख सदा ॥

ब्रह्म मोक्ष अविनाश अरु, धर्म अखण्ड सुख नित्य ।
मात्र समाश्रयी सर्व महं, पार्थ धारहु सो चित्त ॥

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

# अथ पञ्चदशोऽध्याय:

## पुरुषोत्तम योग

**श्री भगवान उवाच**

उर्ध्वमूल अध शाख जग, पल्लव तेहि कर वेद ।
अस अविनाशी तरुवरहिं, जानाहि ते विद वेद ॥

उपज त्रिगुण तरु विषय प्रवाला। तेहि पल्लव फल योनि कराला ॥
रूप अलभ्य थित आदि न अंता। दृढ विराग आयुध तेहि हंता ॥
पद अनन्य अस खोजिय जाई। जहां जाय तहं फिर नहिं आई ॥
नाश कीन्ह मद मोह असक्ति। प्रभु स्वरूप आत्मा अनुरक्ति ॥
निर्द्वन्द्व सुखादि दु:ख मान लालसा। पाव सुधी तेहि मोक्ष सुगमता ॥
नहिं रवि शशि कृशानु आलोकित। प्रकाश परमपद स्वयं प्रकाशित ॥
जीव अंश मम नित्य सनातन। खींच प्रकृति ते पंचेन्द्रियमन ॥

त्यागे ईश जो देव कहं, नव तन करे निवास ।
प्रसून सुगन्ध सरिस ही, मन इन्द्रिय तहं साथ ॥

उपभोग भोग कर सदा जीव बस। चक्षु श्रोत्र मन त्वचा घ्राण रस ॥
देह त्याग स्थित या तन महं। गुणमय भोग अनुभवे जीव जहं ॥
लखे न मूढ़ दशा सो क्षण भर। तत्वहिं लखे मात्र ज्ञानी नर ॥
जानु आत्मलय जतन ते योगी। लखे न जतन कर अज्ञ अयोगी ॥
रवि शशि अनल तेज जो अहई। मोहि ते सदा प्रकाशित होई ॥
धरनि प्रविष्ट धारउं सब भूता। औषधि सुधा षोषशशि कोषा ॥

प्राण अपानहि युक्त हो, मैं पावक सब जीव ।
पचवहुं सदा सो चार अन्न, भच्छ भोज्य चुष लीह ॥

अंन्तर्यामी रूप महं हिय बसौ सबके सदा ।
स्मृति ज्ञान विवेक मोहिं, ते हुय अपोहन सर्वदा ॥

ज्ञातव्य मैं सब वेद कारण, ज्ञात वेद विदान्त कर ।
अरु विलग मैं सबते सदा, कर्त्त मैं सब भांति वर ॥
द्वय पुरुष इहि लोक मांहि, क्षर अक्षर जिन्ह कहें ।
भूत सारे क्षर अहहिं नाश नहिं अक्षर जहें ॥
पुरुष श्रेष्ठ भिन्न दोउन, भर्ता त्रिलोक परमात्म है ।
सर्वस्व नित अविनाश ईश्वर सुखद कण-कण व्याप्त है ॥
क्षरातीत कारण अहहुं मैं अक्षरोत्तम सर्वदा ।
वेद अरु त्रिलोक मांहि ख्यात पुरुषोत्तम सदा ॥

ज्ञानी जानहिं तत्व ते, पुरुषोत्तम अनुमानि ।
भजहिं सतत सर्व भाव जे, परमेश्वर मोहि जानि ॥
परम गोप्य मम शास्त्र सो, कहेउं तोहि निष्पाप ।
जानहि तत्व ते सकल नर, नित कृतकृत्य सो आप ॥

॥ इति पञ्चदशोध्याय: ॥

# अथ षोडशोऽध्यायः

## दैवासुर संपद योग

**श्री भगवान उवाच**

अभय चित्त निर्मल सदा, ज्ञान योग तप दान ।
वेद पाठ स्वनिग्रहि, यज्ञार्जव गुण धाम ॥

शान्ति अपैशुन सत्य अहिंसा। अक्रोध त्याग मृदु लोभ हीनता ॥
निरभिमान मैत्री धृति करुणा। तेज शौच देव सम्पद जन्मा ॥
अहं क्रोध पारुष्य अज्ञता। दम्भ दर्प गुण असुर सम्पदा ॥
मुक्ति मार्ग देव सम्पद के गुण। असुर अज्ञान कारणहिं बन्धन ॥
सृष्टि रचित द्वय देव आसुरी। दैव कहेउं अब सुनहु आसुरी ॥
असुर ज्ञान नहिं प्रवृत्ति निवृत्ति। नहिं शुद्धाचार अरु असत प्रकृति ॥

असुर प्रकृति नर कहहिं अस, जग असत्य निराधार ।
नर नारी संयोग ते, जन्मेउ सब संसार ॥

जनम ते उग्र कर्म अपकारी। जग क्षय हेतु सो दृष्टि निहारी ॥
अतृप्त सदा दम्भ कीर्ति कामना। मोह दुराग्रह असत्य कल्पना ॥
चिन्ता अमित मृत्यु पर्यन्ता। विषयी भोग नहिं जाकर अंता ॥
नित संग्रह धन सतत सदाहीं। तिय सुख सौख्य मनोरथ जाहीं ॥
अरि बध बधन और अरि बधिऊँ। ईश सिद्धि सुख वैभव लहिऊं ॥

जन धन शक्ति सबल हो, करों यज्ञ धन दान ।
लहहुं समृद्धि सुख सुयश, ग्रसित मोह जन मान ॥

चित बहु भ्रान्त मोह अज्ञाना। ग्रस नर नरक भोगरत नाना ॥
धन मद मत्त सो अहंकार अस। यजहिं यज्ञ विधि हीन दम्भवश ॥
बल मद काम क्रोध परनिन्दक। करहिं द्वेष प्रति देह मोर लख ॥

अशुभाचार मम विमुख नराधम। बहु बार देहूं असुर योनि तिन ॥
असुर योनि बहु जनम वास कर। अप्राप्त मोंहिं गति घोर पाव नर ॥

काम क्रोध अरु लोभ तीनहु प्रबल नरक द्वार हैं ।
सतत अधोगति मूल कारण त्यागही ते उद्धार है ॥
सुनहुं पार्थ प्रमाण मानहु, जे तीन दुर्गुण त्यागहीं ।
करि आचरण कल्याणकारी, सोइ मोकहं पावहीं ॥
शास्त्र-विधान त्याग जे नर, अनुहार निजमन आचरण ।
तिन सुख परमगति नाहिं कबहुं घोर अशांत ताहि मन ॥

काज अकाज सबन्ह महं शास्त्रविधान प्रमाण ।
करहि शास्त्रविधि कार्य जे, तिन्हहिं सदा कल्याण ॥

॥ इति षोडशोऽध्याय: ॥

# अथ सप्तदशोऽध्यायः

## श्रद्धा-त्रय-विभाग योग

**अर्जुन उवाच**

त्याग शास्त्र विधि जो नर, पूजहिं देव सनेह ।
केशव कहिय सो तिन्ह गति, सत रज तामस देह ॥

**श्री भगवान उवाच**

मानव प्रकृति जग श्रद्धा तीनी। सतरज तामस गुणन्ह प्रवीणी ॥
सत्त्वानुरूप श्रद्धा प्रति व्यक्ति। श्रद्धानुरूप मानव अनुरक्ति ॥
देवन्ह सात्त्विक रजस राक्षसी। पूजहिं तामस प्रेत पिशाचकी ॥
अहं काम अरु दंभ आसक्ति। शास्त्र रहित तप कल्पित वृत्ति ॥
देहस्थ भूत मोहिं भज जे प्राणी। प्रकृति असुर जानहु अज्ञानी ॥
रुचि अनुसार तिन्ह तीन अहारा। यज्ञ दान तप तीन प्रकारा ॥

आयु सत्व बल स्वास्थ्य प्रीत विवर्द्धक हेतु ।
रसमय चिकने थिर ह्नद्य संत आहार उद्देश्य ॥

अति उष्ण रुक्ष अम्ल कटु दाहक। रोग विकार अहार सो राजस ॥
बासी अहार दुर्गन्ध अपावन। अपक्व जूठ भावे तामस मन ॥
कर्म पाल नहिं मन विधि युक्ति। नाहिं बांध्यो जिन्ह यज्ञ सात्विकी ॥
यज्ञ हेतु फल दंभ आचारी। करहिं जे अस राजस गुण धारी ॥
श्रद्धा बिन अन्न दान दक्षिणा। तामस यज्ञ विधि मंत्र विहीना ॥
पूजहिं सुरमूसुर गुरु ज्ञानी। ब्रह्मचर्य अहिंसा तन तप मानी ॥
उद्वेगरहित प्रिय हित सत भाखी। अभ्यास वेद वाणी तप माखी ॥

मन प्रसन्न हिय शांत चित आत्म निग्रह संशुद्धि ।
भजहिं ईश चिन्तहिं सदा मानस तप अति शुद्ध ॥

आश्रित श्रद्धा तप त्रय सात्विक। फलाकांक्ष नहि कर योगी नित ॥
सत्कार मान पूजार्थ दंभमय। फल क्षणिक राजसी तप तहं ॥

आत्म क्लेश हठ घात लागि जो। अस तप तामस समुझ पार्थ सो ॥
दातव्य ज्ञान निरपेक्ष दान कहं। सात्विक सो देश काल पात्र तहं ॥
सहि कलेश प्रति लाभ भाव मन। राजस दान कहहिं तेहि अर्जुन ॥
विचार हीन देश काल पात्र कहं। अवज्ञ तिरस्कृत सो दान तामसह्न ॥

ॐ तत्सत् सो नाम त्रय, जो निर्देशित ब्रह्म ।
ब्राह्मण वेद सुयज्ञहिं रचना काल अरंभ ॥

उच्चरहिं कहि ॐ प्रथमहिं ब्रह्मवादी पुलक मन ।
विधान युत तप दान यज्ञ, क्रिया ते करि आचरण ॥
उच्चार तत् प्रभुहिंमान, निष्काम भाव युक्त हो ।
कल्याण हित तप दान यज्ञ, भाव माहिं विरक्त हो ॥
सदभाव साधु-स्वभाव होइ, सत प्रयोगहिं सर्वदा ।
सतभाव श्रेष्ठ कर्म निश्चित, मान अनुभवहिं मुदा ॥
यज्ञ दान तप मांहिं स्थित, सोइ सत कहं जानिए ।
प्रभु अर्थ कर्म मान निश्चित अहै सत सो मानिये ॥

श्रद्धा बिन सम्पादित, हवन दान तप कर्म ।
लाभ नाहिं दुहूं लोक कछु मानहु असत अधर्म ॥

॥ इति सप्तदशोऽध्याय: ॥

# अथ अष्टदशोऽध्यायः

## मोक्ष संन्यास योग

**अर्जुन उवाच**

अच्युत केश निषूदन, कीन्ह कृपा निज दास ।
पृथक पृथक सो कहिय प्रभु तत्त्व त्याग संन्यास ॥

**श्री भगवान उवाच**

तज काम्य कर्म संन्यास जान बुध। कर्मफल त्याग कोउ कहहि त्याग अस ॥
कोउ कोउ कर्मन कहहिं सदोषा। दूजे तप मख दान अदोषा ॥
त्याग हेतु मत सुनहु हमारा। त्याग जो कहहिं सो तीन प्रकारा ॥
सो क्रम यज्ञ तपदान सुपावन। नाहिं त्याज्य सो कर्म सुबुधजन ॥
ये सब कर्म मोर मत जानहु। निष्काम निसंग ताहि शुभ मानहु ॥
नियत कर्म भल नहिं जो त्यागा। त्याग मोह सो तामस त्यागा ॥

कर्म मांहि दुख मान जे, भय अरु तन कर क्लेश ।
राजस त्याग तेहिं जानहु, तहां न प्राप्त फल लेश ॥

कर्तव्य मान विधि कर्म सो पालन। राग न कर्मफल त्याग सतोगुण ॥
नहिं राग रोष रति द्वेषहिं कर्मा। बुध निर्भ्रान्त त्यागी सतगुणा ॥
त्याग अशक्य सब कर्म मनुज तन। त्यागहिं कर्म फल सोइ त्यागीजन ॥
प्रिय अप्रिय मिश्रित कर्मन फल। मुक्त संन्यासी सकाम भोग फल ॥
कर्मन सिद्धि सांख्य मत एहु। सो कारण पांच ध्यान धर लेहु ॥
अधिष्ठान कर्त्ता विविध साधन। विविध चेष्टा पंचदेव कारण ॥

मन वाणी तन से नर, कर्म करे जोइ जोइ ।
सहित नाथ अन्यायहिं, कारण पांच सो होइ ॥

जे मान मात्र कर्त्ता शुचि आत्मा। तिन्हहिं जानु दुमर्ति दुष्टात्मा ॥
जो लिप्त कर्म कर्त्ता नहि मानहिं। लोकहिं हंत न हंत अध आनहिं ॥
ज्ञेय ज्ञान ज्ञाता त्रय प्रेरक। कर्त्ता न क्रिया कारण कर संग्रहक ॥

सांख्यहिं कर्म कर्त्ता जो कहेउ। त्रिविधि भेद गुण ताकर सुनहु ॥
विभिन्न भूत अव्यक्त भाव कहं। भाव लखे सम ज्ञान सत्त्व तहं ॥
सब भूतन्ह नाना विधि माने। विभिन्न भाव तेहि रजस बखाने ॥

जो अंश माहिं परिपूर्ण की, उपजावे आसक्ति ।
तत्त्वार्थ ज्ञान अति क्षुद्र सो, ज्ञान तामसी वृत्ति ॥

जे निष्कर्म अरु राग द्वोष बिन। सुनिदिष्ट कर्म सात्विकी अर्जुन ॥
फल इच्छा अरु अहंकार मय। श्रम घोर कर्म सो राजसी तहं ॥
हिंसा हानि क्षमता परिणामा। असोच मोहमय तामस नामा ॥
अनहं असंग बच उमंग पूरित। सिद्धि असिद्धि सम कर्म सात्विक ॥
राग लोभ फलाकांक्षी हिंसक। अशुचि शोक हर्ष कर्त्ता राजस ॥
गर्विष्ठ आलसी क्षुद्र शठ घातक। अज्ञान विषाद दीर्घ सूत्री तामस ॥

धृत बुद्धि के भेद गुण, अहहिं सो तीन प्रकार ।
पृथक पृथक तिन कहहुं मैं, विधिवत गुण आधार ॥

बंधन मोक्ष अरु प्रवृत्ति निवृत्ति। काज अकाज भयाभय वृत्ति ॥
सब विधि भल इन कहं जे जाने। ज्ञान सात्विक तेहि अस माने ॥
कार्य अकार्य अरु धर्म अधर्महिं। अज्ञात ज्ञान राजस गुण जानहिं ॥
तमसाछन्न धर्म अधर्म मान जो। सर्वार्थ विमुख तामसी गुण सो ॥
दृढ़निष्ठ योग मन इन्द्रिय प्राणा। धारण क्रिया धृति सतगुण जाना ॥
काम अर्थ धर्म धारि धारणहिं। फलासक्ति धृत रजस बखानहिं ॥
मद शोक विषाद भय निद्रा मूढ़ा। धारण सो धृत तमस विमूढ़ा ॥

शौर्य तेज धृति दक्षता, समर न पीठ दिखाब ।
दानी ईश्वर भक्त सो, क्षत्रिय कर्म स्वभाव ॥

कृषि वाणिज्य गोरक्षा पालन। कर्म स्वभाव वैश्व नर अर्जुन ॥
सब वर्णन्ह परिचर्या सब दिन। शूद्र स्वभाव कर्म विधि पालन ॥
तत्पर स्वकर्म सिद्धि जे पावहिं। सुनहु पार्थ विधि जो अपनावहिं ॥
व्याप्त सो कण कण जो जगदीश्वर। स्वकर्म पूज सिधि पावहिं ते नर ॥
परधर्म सम्पन्न ते श्रेष्ठ स्वधर्मा। पापयुक्त नहि सहज स्वकर्मा ॥
त्याग उचित नहिं सदोष सकर्महिं। धूम अग्नि समगनिय सदोष येहि ॥

अनासक्त सर्वत्र जोइ, जितात्म सुभग मति लीन्ह ।
सतत स्वकर्म धर्म दृढ़, नैष्कर्म सिधि आसीन ॥

सिधि सम्प्राप्त जिमि ब्रह्म पाइ नर। सुन संक्षिप्त परानिष्ठ ज्ञानकर ॥
विशुद्ध बुध युत धृत आत्माजित। शब्दादिभोग अरुराग द्वेषतज ॥
तन मन वाणी जयी एकांत प्रिय। मिताहार वैराग्य ध्यान क्रिय ॥
छांड़ि काम बल क्रोध परिग्रह। विगत दर्प ममता अरु आग्रह ॥
उचित पात्र सो शांति पाव नर। अचल ब्रह्म एकभाव सो तत्पर ॥
कर मम भगति तत्व जे जानहिं। नाहिन कछु अनन्य लय आनहिं ॥

सदा परायण होय नित, निष्काम धर्म विश्वास ।
मम कृपा दृष्टि ते पावहिं पद शाश्वत अविनाश ॥

समर्पि मोहिं निज कर्म युक्त मन। निश्चित समबुद्धि योग ते अजुंत ॥
मम प्रसाद मच्चित्त तरहु दु:ख। न तरु नाश तव अहंकार वश ॥
सगर्व युद्ध कहं कीन्ह मनाही। तव प्रकृति प्रवृत अहै रणमांही ॥
बंधेउ पूर्वकृत कर्महिं परवंश। सोइ करहु जो छाड़ेउ मोहवश ॥
सर्वभूत उर वास प्रभु सोई। देहतन्त्र जिव बंधेउ माया तेई ॥
गहहु शरण प्रभु सर्व भाव ते। तत्प्रसाद देहिं परम धाम वे ॥

ज्ञान सो महागोप्य यह, कहेउं तोर हित जान ।
सोच समझ तस करहु तुम, इहिक्षण मन अनुमान ॥
अति गोपन रहस्य मय, सुन मम बचन बहोर ।
तू अतिशय प्रिय मोकह, मैं हितकारक तोर ॥

हुय मम भगत करहु नित पूजन। सत्य कहहु प्रिय होउ हरक्षण ॥
शरण गहहु मम सब धर्महिं तज। पाप मुक्त हो सोच करहु जनि ॥
अश्रवन अतप निंदक अभक्त। कहिये न तिनहिं ज्ञान जो गुप्त ॥

यह परम गोप्य सोइ जे मम भगत कहं पहुचावहीं ।
असंदेह पाय मम पराभक्ति सदा मोकहं पावहीं ॥
इति ते अधिक न सुप्रिय मोहिं, ज्ञान देय जगत महं ।
नहिं होय कबहुं अउर दूसर, पार्थ कोउ लोक महं ॥

जे संवाद रूप शुभ धर्ममान, करहिं सुकर्म स्वध्याय नित ।
तिन्ह मान सो मम कीन्ह पूजा ज्ञान यज्ञ अति चाव चित ॥
श्रद्धावंत सुनहिं इह कहं, दोष दृष्टि रहित हो ।
ते पाव पुण्यवान लोक, अरु आत्मा विमुक्त सो ॥

कहेउं पार्थ का सुनेउ तुम, प्रतिक्षण इह मन लाइ ।
अज्ञान जनित सो मोह तव, का गयउ समूल नसाइ ॥

## अर्जुन उवाच

गयउ मोह हुय बोध कृपा तव। निसंशय तत्पर तव आज्ञा अब ॥

## संजय उवाच

राजन सुनेउ जो पार्थ हरि मुख। मैं भयउं चकित सुन अति रोमांचित ॥
व्यास प्रसाद सुन गुप्त गूढ अति। कहेउ स्वयं श्री कृष्ण पार्थ प्रति ॥
केशवार्जुन संवाह क्षेमकारी। सुमिर सो पुनि-पुनि पुलकित भारी ॥
ध्यानहिं धरो रूप हरि अद्‌भुत। विस्मय ते पुन पुन अति हर्षित ॥

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धर पार्थ ।
मम मति तहां नित्य जय, श्रीनिधि नीत यथार्थ ॥

॥ इति अष्टादशोऽध्याय: ॥

# अपरोक्षाऽनुभूति

श्री आद्यशंकराचार्य विरचित् अपरोक्षाऽनुभूति का पद्यानुवाद

## मंगलाचरण

श्री हरि परमानन्द जी, उपदेष्टा व ईश्वर है ।
व्यापक, कारण, सर्वाश्रयी को मेरा नमस्कार है ॥

## ग्रन्थ का प्रयोजन

अपरोक्ष अनुभूति का प्रयोजन मोक्ष सिद्धि है ।
सत्पुरुषों का यत्नपूर्वक, चिन्तन सतत् इष्ट है ॥

## साधन चतुष्टय

निज वर्णाश्रम धर्म तप से, प्रसन्न करते श्री हरि को ।
वैराग्य साधन चतुष्टय की प्राप्ति होती मनुज को ॥
ब्रह्मा सैस्थावरपर्यन्त, विषयों में काक विष्ठा विरक्ति ।
ऐसा विरक्त होना ही, निर्मल वैराग्य की प्रवृत्ति ॥
आत्मा का स्वरूप नित्य, दृश्य विपरीत अनित्य है ।
सदा ऐसा दृढ़ निश्चय ही, आत्म वस्तु विवेक है ॥
वासनाओं का सदा त्याग, शम कहते हैं उसे ।
बाह्यवृत्तियों का निरोध, कहते दम हैं उसे ॥
पराग्ङ् मुखो विषयों से ही, होती परम उपरति है ।
सब दु:खों का सहन करना, शुभ तितिक्षा रूप है ॥
आचार्य, शास्त्र वाक्यों में, भक्ति श्रद्धा रूप है ।
लक्ष्य में चित्त एकाग्रता, वास्तविक समाधान है ॥
हे प्रभु! मेरी मुक्ति कब, कैसे हो सुदृढ़ बुद्धि है ।
ऐसी निरन्तरता प्रगाढ़ता, मुमुक्षता कहते उसे ॥

## विचार का प्रकार

निज शुभ इच्छायुक्त जन, उपयुक्त साधन युक्त हो ।
अर्थज्ञान कर्म सिद्धि बिचारना अतिशुभ तभी ॥
जिस प्रकार प्रकाश विहीन पदार्थ भान होता नहीं ।
तैसे साधकहीन विचार भी ज्ञान से अपूर्ण है ॥
मैं कौन, कैसे जगतोत्पत्ति, कर्त्ता इसका कौन है ।
उपादान कारण क्या है, विचारना इस प्रकार है ॥

न देह भूतों का संधात रूप न मैं इन्द्रिय समूह हूँ ।
किन्तु भिन्न इनसे ही, विचारना इस प्रकार है ॥
अज्ञानजन्य प्रपन्च सब, ज्ञान से होते विलोम ।
संकल्प हो कर्त्ता मूल है, विचारना इस प्रकार है ॥
ज्यों घट आदि उपादान का कारण मृत्तिका एक है ।
त्यों दोनों का उपादान, सत् सूक्ष्म अविनाशी है ॥
मैं भी जो सूक्ष्मज्ञाता साक्षी सत् अविनाश है ।
मैं वहीं हूँ नि:सन्देह, विचारना इस प्रकार है ॥

## आत्मनात्मा विवेक

आत्मा एक कलाहीन है, देह तत्त्व अनेक है ।
उससे बड़ा अज्ञानी कौन, जो एक रूप जाने उसे ॥
अन्तवन्ती आत्मा नियामक देह पिण्ड अपवित्र है ।
उससे बड़ा अज्ञानी कौन, जो एक रूप जाने उसे ॥
निर्मल आत्म सर्व प्रकाशक, देह तम स्वरूप है ।
उससे बड़ा अज्ञानी कौन, जो एक रूप जाने उसे ॥
आत्मा नित्य सत् स्वरूप है, देह अनित्य असत्य है ।
उससे बड़ा अज्ञानी कौन, जो एक रूप जाने उसे ॥
सभी पदार्थों की प्रतीति आत्म प्रकाश तत्त्व है ।
उससे बड़ा अज्ञानी कौन, जो एक रूप जाने उसे ॥
आत्मा न ज्योति अग्नि, अग्नि भाव अन्धेर है ।
सदा घट द्रष्टा सदृश, मैं मेरा यह देह हूँ ॥
सदा ऐसा मानता जो वह मूढ़ पुरुष है अहो ।

## ज्ञान का स्वरूप

मैं सम शान्त सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म स्वरूप हूँ ।
मैं असत् रूप देह नहीं, बुध जन ज्ञान कहते इसे ॥
मैं निर्विकार, निराकार, निर्मल अविनाशी सदा ।
मैं नहीं असत् रूप देह, ज्ञान कहते बुधजन इसे ॥
मैं दु:खहीन आभासहीन, विकल्पहीन व्यापक सदा ।
मैं नहीं असत् रूप देह, बुध जन ज्ञान कहते इसे ॥

निर्गुण निष्क्रिय नित्यमुक्त मैं अच्युत अखण्ड हूँ ।
मैं नहीं असत् रूप देह, बुध जन ज्ञान कहते इसे ॥
निर्मल निश्चल शुद्ध सदा अमर अनन्त हूँ ।
मैं नहीं असत् रूप देह, बुध जन ज्ञान कहते इसे ॥

## ज्ञान

स्वदेह में शास्त्र सम्मत शोभित पुरुष आत्मा ।
मूर्ख! आत्मा के रहते क्यों, करता शून्य रूप उसे ॥
देहातीत सर्वात्म का, युक्ति पूर्वक श्रवण कर ।
मूर्ख पुरुषों को अति कठिन प्राप्त कर पाना उसे ॥
एकमात्र स्थित शब्द से, प्रसिद्ध जो परमात्मा में ।
स्थूल जो अनेक भावयुत, देह पुरुष हो कैसे भला ॥
सिद्ध अहं जो द्रष्टा रूप, स्थित दृष्य रूप देह है ।
कहते यह शरीर मेरा जो, देह पुरुष वह कैसे भला ॥
अहं विकार रहित जो, यह देह विकारवान है ।
जो स्पष्ट प्रतीत हो रहा, देह पुरुष वह कैसे भला ॥
पुरुष लक्षण युस्मात्परं श्रुतिसम्मत जानते विज्ञ हैं ।
जो निष्कम्प भाव से स्थित, देह पुरुष वह कैसे भला ॥
पुरुष सूक्त में श्रुति कथन, सब कुछ पुरुष है सदा ।
तो फिर यह देह पुरुष के समान क्यों होगी भला ॥
बृहदारण्यक में पुरुष करे, असंग कहा गया है ।
तब अनंत मूल से पूर्ण, देह पुरुष वह कैसे भला ॥
स्पष्ट तहाँ यह भी कि पुरुष स्वयं प्रकाश है ।
फिर जड़ पर प्रकाशित यह, देह पुरुष वह कैसे भला ॥
कर्मकाण्ड में उधृत नित-आत्मा पृथक देह से ।
इसी देहपात के अनन्त हो, कर्मफल भोगता है सदा ॥
सिंहदेह अनेक तत्त्वों का, संधात चल विकार दृश्य ।
अव्यापक असत् रूप जो, देहपुरुष वह कैसे भला ॥
भिन्न है, आत्म पुरुष ईश्वर, स्थूल सूक्ष्म शरीर से ।
मैं ही सर्वात्म सर्वरूप, अविनाशी जो सब से परे ॥

## द्वैत मिथ्यात्वा

**शंका** – आत्मा व देह का जो, तर्क शास्त्र सम्मत प्रदत्त ।
प्रपन्च की सत्यता रहते पुरुषार्थ सिद्ध कैसे हुआ ?

## समाधान

निरूपण आत्म व देह भेद देहात्मभाव निराकरण है ।
सत् असत् देह भेद वर्णन, स्पष्ट प्रकट होगा तभी ॥
चैतन्य एक स्वरूप है, निरर्थक उसका भेद है ।
रज्जु सर्प भ्रम ज्ञान भाव, मिथ्या भाव जीव का ॥
रज्जु अज्ञान के क्षण को, प्रतीत सर्वभाव है ।
त्यों छवि परमद्रष्टा की, विश्वरूप व्याप्त है ॥
जो उपादन कारण ब्रह्म, प्रपन्च का ही दृश्य है ।
अत: सब प्रपन्च में ही, ब्रह्म स्वरूप व्याप्त है ॥
शास्त्रोक्त मत आत्मा हो सब, व्याप्य व्यापकता नहीं ।
इस परम तत्त्व के ज्ञान से हो, भेद अवसर कहाँ भला ॥
श्रुति दर्शन नानात्व का, स्पष्ट किया निषेध है ।
कारण के अद्वितीय मात्र से, आभास अन्य कैसे भला ॥
मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त श्रुति ने दोष कहा इसे ।
माया भ्रमित मनुष्य ही, नानात्व को है देखता ॥

## जगत् की ब्रह्मरूपता

परमात्मा ब्रह्म से ही, सम्पूर्ण भूत उत्पत्ति है ।
अत: ब्रह्म ही सर्व व्याप्त, ऐसा निश्चित कीजिये ॥
समस्त नाम विविध रूप, कर्मधारण ब्रह्म है ।
श्रुति सम्मत उल्लेख से सर्व कारण ब्रह्म है ॥
ज्यों स्वर्ण निर्मित वस्तुएँ, स्वर्ण से परिपूर्ण हैं ।
त्यों ब्रह्म निर्मित जगत् यह सर्वदा ब्रह्मपूर्ण है ॥
जीवात्मा परमात्मा में, भेद मूर्खतापूर्ण है ।
भय के कारण मूढ़ता, श्रुति सम्मत स्पष्ट है ॥
मूढ़ता से द्वैत भाव में, वहीं कोई और की पुष्टि है ।
किन्तु जब आत्म रूप दिखता तब अन्य कुछ भी नहीं है ॥

जो जानता सर्वभूतों को आत्म भाव मानता ।
उसे द्वैत अभाव कारण ही शोक मोह मुक्त है ॥
यह आत्मा सर्वात्मभाव से, स्थित हुआ ब्रह्म है ।
बृहदारण्यक शाखा को, श्रुति सम्मति दृढ़ निश्चयो ॥

## प्रपंच का मिथ्यात्व

क्षण को अस्थिरता के कारण, ज्यों स्वयं असत्य है ।
लोक त्यों लोक व्यवहार अनुभव से जगत् असत्य है ॥
नहीं स्वप्न में जाग्रत अप्रतीत जाग्रत ज्यों ।
तथा सुषुप्ति में दोनों नहीं, सुषुप्ति जाग्रत स्वप्न नहीं ॥
त्रिगुण से उत्पन्न अवस्था मिथ्या जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति ।
तीनों का द्रष्टा त्रिगुणातीत, नित चितस्वरूप है ॥
ज्यों भ्रमवश मिट्टी में घट, सीपी में चाँदी देखता ।
तैसे ही ब्रह्म में जीवभाव, स्वत: जो है नहीं ॥
मृत्तिका में घट स्वर्ण कुण्डल में, सीपी में चाँदी मात्र है ।
त्यों परमात्मा में जीव शब्द भी नाम मात्र है ॥
नभ नीला मरुभूमि में जल, ढूँढ में पुरुष प्रतीत ज्यों ।
तैसे हो चेतन आत्मा में विश्व प्रतिभासित है ॥
शून्य में बेतान गन्धव नगर के नभ में दो चन्द्रमा ।
तैसे ही सत् में संसार की स्थिति है भासती ॥
तरंग मालाओं में जल ताँबा पात्र स्फुरित है ।
त्यों ब्रह्माण्ड समूह के रूप आत्मा स्फुरित है ॥
ज्यों घट से पृथ्वी, पट से तन्तु भासता मनुज को ।
त्यों जगत् नाम से चित्त शब्द बोध कर जानिये ॥

## ब्रह्म की सर्वात्मकता

जितना व्यवहार मनुष्य का, होता ब्रह्मलीन सत्ता से ।
किन्तु अज्ञानवश नहीं ज्ञात उन्हें घट आदि मृत्तिका है ॥
जिस प्रकार मृत्तिका की कार्य-कारणता नित्य है ।
त्यों श्रुति व युक्ति से प्रपन्च व ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है ॥
ज्यों घड़े को लेकर बलात् मृत्तिका की प्रतीति है ।

त्यों दृश्यावत प्रपन्च में भी स्पष्ट ब्रह्म भासता ॥
आत्मा नित्य शुद्ध है फिर भी पुनीत अशुद्ध भासती ।
ज्यों रज्जु ज्ञानी अज्ञानी को है विलग-विलग भासती ॥
मिट्टी का रूप घट जिस प्रकार, त्यों देह चेतन रूप है ।
अज्ञान से भेद करते व्यर्थ में, आत्मा अनात्म में ॥

## देहात्मा का निषेध

अज्ञानवश रज्जु ज्यों सर्व सीपी को चाँदी मानते ।
त्यों मूढ़ जन आत्मा को देहरूप ही मानते ॥
ज्यों घट से पृथ्वी पट तन्तु का भान होता है ।
त्यों मूढ़ पुरुषों को आत्मा देहरूप भान होता ॥
ज्यों कुण्डल स्वर्ण व तरंग रूप से जल कल्पित ।
त्यों मूढ़ पुरुषों को आत्मा देहरूप है भासता ॥
ज्यों काष्ठ ग्रहरूप में लौह खड्ग रूप है ।
त्यों मूढ़ पुरुषों को आत्मा देहरूप है भासता ॥
ज्यों जल प्रतिबिम्ब में वृक्ष उलटा प्रतीत सभी को ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा देहभाव को प्रतीत है ॥
ज्यों जहाज में चलते पुरुष देखते पदार्थ चलायमान ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा देहभाव को प्रतीत है ॥
ज्यों नेत्र दोष के कारण मनुज श्वेत को पीला देखते ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
ज्यों घूमती आँखों से चीजें, चक्कर काटती दीखती ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
ज्यों जलती बनैली घुमाने से सूर्य जैसा गोल है ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
ज्यों अति दूर की बड़ी वस्तु छोटी है दीखती ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
ज्यों दूरबीन से छोटी वस्तु बहुत बड़ी है दीखती ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
ज्यों काँच भूमि में जल में काँच भ्रम रूप है ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥

ज्यों अग्नि में मणि मणि में अग्नि की बुद्धि जो करे ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
नभ में बादलों की दौड़ से ज्यों, दिखता चन्द्र है भागता ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
ज्यों मोहवश भूल से कोई दिग्भ्रमित होता तभी ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
यदि जल में किसी को चन्द्र हिलता है दीखता ।
त्यों अज्ञानवश आत्मा, देहरूप है भासता ॥
इस प्रकार अविद्या से आत्मा देह भाव को प्रतीत ।
आत्म ज्ञान प्राप्त होने पर, परमात्मा की प्राप्ति है ॥
जब सब स्थावर जंगम् जगत्, आत्मरूप होता अनुभव ।
तब सब भावों के अभाव से आत्मत्व देहों का नहीं ॥
हे महामत आत्म रूप को, नित्यजान प्रारब्ध भोगकर ।
व्यतीत कर समय अपना उद्विग्न होना व्यर्थ है ॥

## प्रारब्ध का निराकरण

जो सुना गया शास्त्र में, आत्म ज्ञान प्राप्त होते फिर भी ।
प्रारब्ध से नहीं मुक्ति, इस भाँति निराकरण है ॥
जान पड़ने पर ज्यों स्वप्न असत्यता है प्रकट ।
वैसे प्रारब्ध नहीं देहादिक, ज्यों असत्य ज्ञानोदय से ॥
जन्मातर कर्म ही, प्रारब्ध कहलाते हैं सदा ।
अत: जन्मान्तर अभाव से, भ्रान्ति नाश ज्ञान से ॥
स्वप्न शरीर सदृश हो अध्यस्त है देह भी ।
अध्यस्तता अजन्म है, अजन्म से प्रारब्ध कहाँ ?
घड़े का उपादान मिट्‌टी ज्यों, प्रपंच अज्ञान उपादान कारण ।
प्रपंच अज्ञान विनाश से भी विश्व विश्वनीयता फिर कहाँ ॥
भ्रमवश रस्सी सर्प सदृश देखता जब मनुज है ।
त्यों मूढ़ संसार को देखता सत्य के अभाव वश ॥
रस्सी रूप जान लेने पर सर्पभ्रम की समाप्ति है ।
त्यों ब्रह्म को प्रतीत, प्रपन्च शून्यवत जान लो ॥
जब देह भी प्रपन्च तब प्रारब्ध को प्रतीत कहाँ वे ।

बस अज्ञानियों को समझाने श्रुति प्रारब्ध बताती ॥
क्योंकि श्रुति दृष्टि में परावर देखने पर कर्मक्षीण कहा ।
उक्त श्रुति कथन का निषेध प्रयोग बहुवचन है ॥
अज्ञानीजन बलात् यदि प्रारब्ध का प्रतिपादन करें ।
वेदान्त सिद्धान्त को हानि अद्वैत प्रकटता मोक्ष ज्ञान से ॥

## निदिध्यासन के पन्द्रह अंग

मैं ज्ञान निष्ठा, उदाहृत निष्ठा प्राप्ति हेतु अंग पन्द्रह यहाँ ।
इन सब से सदा विधिवत् निदिध्यासन करना चाहिये ॥
बिना निरन्तर अभ्यास प्राप्ति नहीं सत् चित् आत्म की ।
अत: चिरकाल तक ब्रह्म चिन्तन जिज्ञासु का कल्याण है ॥
क्रम संयम नियम त्याग मौन देशकाल आसन ।
मूलबंध देह समता नेत्र स्थिति प्रत्याहार प्राणायाम ॥
धारणा ध्यान समाधि, वशीभूत इन्द्रिय यम द्वारा ।
सर्वत्र ब्रह्म ज्ञान द्वारा, अभ्यास कल्याणप्रद सदा ॥
सजातीय वृतिश्वास विजातीय तिरस्कार नियम ब्रह्मरूप ।
पालन नियमित जिसका बुद्धिमान जन करते सदा ॥
प्रपन्च का चेतन रूप देख, रूप त्याग वन्दनीय है ।
त्याग तो महान् पुरुषों का मोक्ष प्राप्ति कहा गया ॥
जिसको न पाकर मनवाणी, लौटती वाणी मौन तक ।
योगियों की गति मौन वहाँ धारण विद्वजन करते इसे ॥
वाणी लौटती जहाँ से ब्रह्म का वर्णन हो कैसे भला ।
प्रपन्च यदि शब्द विषय है तो ब्रह्म शब्द रहित सदा ॥
अतएव सत्पुरुषों का दूजा, मौन अशब्द सहज है ।
ब्रह्मवादी वाणी मौन को तो मुख हित बतला रहे ॥
आदि अंत अरु मध्य में न कोई नर जिसमें जहाँ ।
व्याप्त निरंतर जग जिससे जनशून्य देश कहा गया ॥
ब्रह्मादि समस्त भूतों को एक पलकलना के कारण ।
अद्वितीय अखण्डानंद ब्रह्म शब्द काल कहा गया ॥
जिस अवस्था में सुखपूर्वक नित्य ब्रह्मचिन्तन हो सके ।
जानिये आसन से से, कष्टप्रद आसन कदापि न ॥

समस्त भूतों का आदि कारण विश्व का अविनाश अधिष्ठान ।
सिद्धजन स्थित जिसमें सदा, सिद्धासन उसे कहा गया ॥
समस्त भूतों का जो मूल चित्त स्थित आधार है ।
उस मूलबन्ध का सदा सेवन योग राजयोग है ॥
चित्त समब्रह्म लीन हो, देह समता को तभी ।
सूखे वृक्ष के समान अङ्गों की निश्चलता समता नहीं ॥
दृष्टि ज्ञानमयी कर जग ब्रह्ममय दृष्टि उत्तम है वहाँ ।
नासिकाग्र भाग को दृष्टि उत्तम नहीं मानते उसे ॥
त्रिकुटी पर अभाव हो जाता द्रष्टा दर्शन दृश्य का ।
उचित दृष्टि वहाँ अवलोकन, नासिकाग्र दृष्टि कदापि न ॥
वित्तादि समस्त भावों में, ब्रह्मभाव भरने से ही ।
है समस्त स्ववृत्ति निरोध, जो प्राणायाम संज्ञा उसे ॥
मैं ब्रह्म ऐसी वृत्ति जो, पूरक प्राणायाम प्रकार है ।
प्रपन्च का निषेध करना, रेचक प्राणायाम है ॥
स्थिरता उस ब्रह्म वृत्ति की, कुम्भक प्राणायाम है ।
क्रम यही जाग्रत जिनका घ्राण पंडित अज्ञान है ॥
विषयों से आत्मभाव मन चेतना लीन प्रत्याहार ।
ऐसा मुमुक्ष पुरुषों का दशति प्रयत्न यहाँ इसे ॥
दौड़े मन जहाँ जाय तहाँ ब्रह्म अनुभूति कीजिये ।
मन की स्थिरता हो तो धारणा अभ्यास मानते ॥
सद्वृत्ति से मैं ही ब्रह्म आनन्द निरालम्ब स्थिति ।
ऐसी एकाग्र स्थिति हो, ध्यान सम्बोधित यही ॥
निर्विकार ब्रह्माकार वृत्ति संवृत्ति हो न परिपूर्ण जो ।
उस वृत्तिहीन अवस्था का ज्ञान समाधि नाम है ॥
इस स्वाभाविक आनन्द का अच्छा अभ्यास होता रहे ।
जब तक चित्त क्षणमात्र में, वशीभूत क्षण भर में हो ॥
तदुपरान्त वह योगिराज साधन युक्त सिद्ध है ।
उसका स्वरूप किसी भी एक मन वाणी विषय से परे है ॥

## समाधि के विघ्न

समाधि अभ्यास करने पर, विश्लेषण आलस्य को ।
भोग, जय, तम विक्षेप रसस्वाद शून्यतादि विघ्न हैं ॥
बलात् विघ्न अनेक जो आते अवश्य हैं सभी ।
अत: ब्रह्मवेत्ता को शनै: शनै: त्यागना उचित है ॥
समाधि के समय भाव से भाववृत्ति शून्य तत्त्व ।
पूर्णावृत्ति से पूर्णत्व प्राप्ति हो पूर्णत्व अभ्यास जो करे ॥

## ब्रह्मवृत्ति का महत्त्व

परम पवित्र जो ब्रह्म वृत्ति त्यागते हैं जो मनुज ।
वृथा उनका मनुज जीवन, जीवित पशु तुल्य है ॥
परिचित जो इस वृत्ति से ज्ञान वृद्धि करते सदा ।
वे धन्य तीनों लोक में तुल्य वन्दनीय सम्पुषि हैं ॥
बढ़ी हुई परिपक्व जिनकी, ब्रह्म वृत्ति है सदा ।
चेष्टा से वक्ता नहीं जो श्रेष्ठ ब्रह्मभाव है ॥
रहित ब्रह्मवृत्ति राग युक्त, कुशल ब्रह्म वार्ता अधिक ।
अज्ञानी अभिमानी को जन्म-मरण बार-बार है ॥
जो अर्धपल भी ब्रह्ममयी वृत्ति बिन रहते नहीं ।
ब्रह्मादि सनकादि, शुकदेव के समान पूज्य हैं ॥

## वृत्तिज्ञान का साधन

अनुगत होता काय में कारण, कारण में नहीं कायता ।
विचारने पर कायाभाव के कारण की कारणता नहीं ॥
अत: जो वाणी का विषय पूर्ण शुद्ध वस्तु है ।
मिट्टी एवं घड़े के दृष्टांत विचारिये बार-बार है ॥
ऐसी वृत्ति ब्रह्मात्मिका हो जाती और है ।
उन शुद्धचित्त पुरुषों की अन्तवृत्ति ज्ञानोदय से ॥
चाहिये पुरुष को तभी वह कारण को देखे अलग कर ।
पीछे वह सर्वदा उसे कार्य में अनुमत रूप ही देखता ॥
प्रथम काय में कारण देख फिर काया को त्याग दे ।

इससे कारण का नाश हो, अवशिष्ट हो जाता तभी ॥
निश्चय पूर्वक तीव्र गति से जिस वस्तु का चिन्तन करे ।
होता पुरुष तुरन्त वहाँ दृष्टान्त भ्रमर कीड़े सदृश ॥
यह सम्पूर्ण जगत् अदृश्य भाव रूप चेतनमय है ।
बुद्धजन सजग होकर नित्य आत्म चिन्तन करे ॥
दृश्य को अदृश्य कर विद्वजन ब्रह्मरूप व्रत चिन्तन करे ।
सब जागरूक सम्पूर्ण बुद्धि से नित सुखमग्न हो रहे ॥
उक्त सब अंगों से युक्त है नाम योग राजयोग ।
कुछ कम क्षीण वासना जिनकी दुष्पयोग सहित है प्रयोग ॥
वासनाहीन चिन्तन परिपक्व उन्हें यह सिद्धि देय है ।
सभी गुरु ईश्वर भक्तों को सुगम प्राप्य श्रेय है ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री गोविन्द भगवत्पूज्यपाद शिष्य श्रीमच्छंकर भगवता विरचिताऽपरोक्षानुभूतिः समाप्ता ॥

नोट

नोट

नोट




SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

गीता मानस की रचना श्री स्वामी सत्यानन्द जी की प्रेरणा से स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती द्वारा की गयी है। इस पुस्तक में उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के समस्त अठारह अध्यायों के मूल श्लोकों का कविता के रूप में पद्यानुवाद किया है। सरल, सरस भाषा में की गयी इस अभिव्यक्ति ने गीता के गूढ़ ज्ञान को सामान्य जन के लिए बोधगम्य बना दिया है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में आदि गुरु शंकराचार्य विरचित अपरोक्षानुभूति का पद्यानुवाद है। यह साधकों के लिए साधन चतुष्टय, आत्मनात्मा विवेक, द्वैत मिथ्यात्व, ब्रह्म की सर्वात्मकता, प्रारब्ध के निराकरण, ब्रह्म वृत्ति आदि को सूत्र रूप में आत्मसात् करने के लिए एक उत्तम मार्गदर्शिका है।




978-93-81620-68-7

ISBN